नमः सर्वज्ञाय

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

आचार्यश्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचित

न्यायावतार

मूल और

श्रीसिद्धर्षिगणिकी संस्कृतटीकाका हिन्दी-भाषानुवाद।

अनुवादकर्त्ता—

पं० विजयमूर्ति शास्त्राचार्य (जैनदर्शन), एम्० ए० (दर्शन, संस्कृत)

प्रकाशक—

श्रीपरमश्रुतप्रभावक मंडल

जौहरी बाजार-बम्बई

श्रीवीरनिर्वाण सं. २४७६ | प्रथमावृत्ति विक्रम संवत् २००७ | ईस्वी सन् १९५०

परिशिष्ट

२ विषय-सूची

२ विषय-सूची

श्रीसिद्धसेन-स्मरण

१.—कवयः सिद्धसेनाद्या वयं तु कवयो मताः ।
मणयःपद्मरागाद्या ननु काचोपि मेचकः ॥ ३९ ॥
प्रवादि-करियूथानां केशरी नयकेशरः ।
सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्प-नखरांकुरः ॥ ४० ॥

—भगवज्जिनसेनकृत आदिपुराण प्र० पर्व

२.—जगत्प्रसिद्धवोधस्य वृषभस्येव निस्तुपाः ।
वोधयन्ति सतां वुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥ ३० ॥

—जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण

३.—यदुक्तिकल्पलतिकां सिञ्चन्तः करुणामृतैः ।
कवयः सिद्धसेनाद्या वर्धयन्तु हृदिस्थिताः ॥

—श्रीकल्याणकीर्तिकृत यशोधरचरित

४.— आयरिय सिद्धसेणेण, सम्मइए पइट्ठिअजसेण ।
दूसम-णिसा-दिवागर, कप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥ १०४८ ॥

—श्रीहरिभद्रसूरिकृत पंचवस्तुक

५.—क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा ।
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ॥

—श्रीहेमचन्द्राचार्यकृत अयोगव्यवच्छेदिका

प्रकाशकका निवेदन

आचार्य सिद्धसेनदिवाकरका अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्यायावतार' हिन्दीअनुवादसहित पाठकोंके सामने उपस्थित किया जा रहा है। यह अनुवाद आचार्य सिद्धर्षिकी संस्कृत टीकाके आधारसे किया गया है। इसके साथ उक्त संस्कृतटीका तो नहीं दी जा सकी है, परन्तु उसके सारे अभिप्राय इसमें आ गये हैं। सिद्धर्षिकी टीका श्वेताम्बर जैन कान्फ्रेंसने डॉ० पी० एल० वैद्यके द्वारा सम्पादित कराके प्रकाशित की है। जिज्ञासु पाठक उसे मँगाकर देख सकते हैं।

आचार्य सिद्धसेन बहुत प्रभावक आचार्य हो गये हैं। वे बड़े भारी तार्किक थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें उनको बहुमानपुरस्सर स्मरण किया गया है। दिगम्बराचार्योंने उन्हें महान् कवि और तार्किक माना है और उनके अनेक पद्योंको उद्धृत किया है। उनके समयके सम्बन्धमें अभी कुछ ठीक निर्णय नहीं हुआ है, फिर भी अधिकांश विद्वान् उन्हें पाँचवीं शताब्दिका मानते हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकी सभाके नव रत्नोंमेंसे क्षपणक शायद यही थे।

सिद्धसेनकी रची हुई बत्तीस द्वात्रिंशतिकायें मानी जाती हैं जिनमेंसे इस समय इक्कीस द्वात्रिंशतिकायें उपलब्ध हैं। न्यायावतारमें भी ३२ श्लोक हैं। इसलिए इसको भी बहुत लोग द्वात्रिंशतिका ही मानते हैं। इनके सिवाय सम्मतितर्क या सन्मतिप्रकरण नामका ग्रन्थ भी इन्हींका बनाया हुआ है। कल्याणमन्दिर स्तोत्र भी सिद्धसेनका माना जाता है परन्तु निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह उन्हींका है।

रा. चं. जैनशास्त्रमालामें प्रशमरतिप्रकरण सं० टी० भा० टी०, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी सं० टी० सहित नई हिन्दी-टीका छप रही है। कई नये ग्रंथोंकी भाषाटीकायें हो रही हैं। श्रीकुन्दकुन्द-साहित्य समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़का सम्पादन संशोधन हो रहा है, जो यथासमय प्रकाशित होगा।

इस ग्रंथका मूल्य शास्त्रमालाके अन्यान्य ग्रंथोंकी अपेक्षा बहुत अधिक मालूम होगा, पर यह ग्रंथ अनेक प्रतिकूल परिस्थितियोंमें छपा है, लिखाई छपाई कागज आदि सभीमें निगुनेसे अधिक दाम लगे हैं, इन्हीं सब कारणोंसे लागत अधिक बैठी है।

श्रीवीरजयन्ती
चैत्र शुक्ला १३, २००७

निवेदक—
मणीलाल

नमः सर्वज्ञाय

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचित

न्यायावतार

मूल और

श्रीसिद्धर्षिगणिकी संस्कृतटीकाका हिन्दी–भाषानुवाद ।

भाषाकारका मङ्गलाचरण

दोहा—विघ्न-विनाशक परमगुरु, चरमतीर्थ-करतार ।
रत्नत्रय धरि जे भये, स्वात्मरूप अविकार ॥ १ ॥
भविजनका कल्याणकर, महावीर भव-धार ।
स्वात्मशुद्ध जिनने किया, प्रणमूँ वारम्वार ॥ २ ॥

१—टीकाकारका मङ्गलाचरण

अवियुतसामान्यविशेषदेशिनं वर्धमानमानम्य ।
न्यायावतारविवृतिः स्मृतिबीजविवृद्धये क्रियते ॥ १ ॥

टीकाकार श्रीसिद्धर्षिगणि इस 'न्यायावतार' ग्रन्थपर अपनी विवृति (टीका) बनानेका प्रयोजन 'धारणा-प्रवृद्धि' को प्रदर्शित करते हुए टीकाके आदिमें श्रीवर्द्धमानस्वामीको अपने द्वारा नमस्कार करनेका कारण यह बतलाते हैं कि उन्होंने दार्शनिक दृष्टिसे सामान्य और विशेषकी भिन्नता-अभिन्नताके सम्बन्धमें वस्तुस्थितिका प्रदर्शन किया है और यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि वे दोनों आपसमें कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न हैं ।

श्रीवर्द्धमानस्वामीने किसी भी दार्शनिक विषयको एक दृष्टि, एक पहलूसे सिद्ध नहीं माना । उन्होंने अनेक (एकसे ज्यादा अर्थात् कम-से-कम दो) दृष्टियोंसे वस्तुका विचार किया है । उदाहरणके तौरपर सामान्य और विशेषको लीजिये । ये दोनों परस्परमें क्या सर्वथा भिन्न हैं, या सर्वथा अभिन्न, अथवा कथञ्चित् (किसी अमुक दृष्टिसे) भिन्न और कथञ्चित् (किसी अमुक अन्य दृष्टिसे) अभिन्न ? इस तरह तीन विकल्पोंको लिये हुए यह सामान्य-विशेषका प्रश्न दार्शनिकोंके सामने उपस्थित है । इस प्रश्नका

हल—(१) सांख्योंने **सामान्यसे विशेषको** और सौगतोंने **विशेषसे सामान्यको** अत्यन्त अभिन्न मानकर किया है। कारण यह है कि सांख्यदर्शन पहले सामान्यसत्ताको स्वीकार करता है, पीछे विशेष-सत्ताको उसमें अनुमित मानता है और बौद्धदर्शनमें सबसे पहले स्वलक्षणरूप अनेक विशेष माने जाते हैं, तत्पश्चात् सामान्य (अन्यापोहात्मक) अन्तर्निहित रूपसे स्वीकार किया जाता है। तात्पर्य यह कि सामान्य और विशेष दोनोंकी अभिन्नतामें ये दोनों दर्शन एकमत हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि दोनों ही दर्शन सामान्य और विशेषका अभेद स्वीकार करते हैं। परन्तु इतना विशेष है कि सांख्य-दर्शनमें सामान्यको प्रधान और विशेषको गौण तथा बौद्धदर्शनमें विशेषको प्रधान और सामान्यको गौण माना गया है। इसी भेदके कारण सांख्यदर्शनको सामान्यवादी और बौद्धदर्शनको विशेषवादी कहा गया है। इस तरह ये दो दर्शन **सर्वथा अभिन्न सामान्य-विशेषवादी** हैं। तथा (२) नैयायिक और वैशेषिक ये दो दर्शन ऐसे हैं जो **अत्यन्त भिन्न सामान्य-विशेषवादी** हैं। वे कहते हैं कि सामान्यसे विशेष अथवा विशेषसे सामान्य सर्वथा (बिल्कुल) भिन्न है, क्योंकि दोनों ही परस्पर निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र हैं। (३) तीसरा पक्ष ब्रह्माद्वैतवादियों-सत्ताद्वैतवादियोंका है, जिनका कहना है कि दुनियाँमें सिवाय एक ब्रह्म (केवल सत्तारूप सामान्य) के और कुछ नहीं है। सामान्य और विशेष इस तरहकी दो चीजें ही नहीं हैं और तब उनका भिन्न या अभिन्नरूपसे सम्बन्ध अथवा असम्बन्धका प्रश्न ही खड़ा नहीं होता या हो सकता है। अतः एक सत्तासामान्यरूप ही वस्तु है और जो अद्वैतब्रह्मके रूपमें स्वीकार करने योग्य है। इन सबके उत्तरमें टीकाकारने अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमानस्वामीको '**अवियुतसामान्य-विशेषदेशी**' विशेषणद्वारा सामान्य और विशेष दोनों रूप वस्तुका कथन करनेवाला बतलाकर उक्त तीनों पक्षोंका सुन्दर समाधान किया है और उनके द्वारा उपदिष्ट जैनदर्शनका विशेष महत्त्व प्रदर्शित किया है। और इस तरह वर्द्धमानस्वामीके यथार्थ वस्तुस्वरूप-प्रतिपादन-गुणका स्थापन करके टीकाकारने उन्हें इसी गुणके कारण नमस्कार किया है, जिससे ग्रन्थारम्भमें मङ्गलाचरण करनेकी भारतीय प्राचीन परम्पराका भी पालन हो जाता है। उनका वह मङ्गलाचरण ग्रन्थ-विवरणकी प्रतिज्ञा सहित इस प्रकार है:—

अवियुतसामान्य-विशेषदेशी—अलग-अलग सर्वथा एकान्तरूप (सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न) सामान्य और विशेषका उपदेश न करनेवाले, किन्तु दोनोंको कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न प्रति-पादन करनेवाले श्रीवर्द्धमानस्वामीको नमस्कार करके स्मृति-बीज—धारणा (संस्कार) की वृद्धिके लिये मैं इस 'न्यायावतार' नामके दार्शनिक ग्रन्थकी विवृति (व्याख्या-टीका) करता हूँ।

इस मङ्गलाचरणमें विवृतिकार श्रीसिद्धर्षिगणिने श्रीवर्द्धमानस्वामीके लिये दिये गये 'अवियुत सामान्य-विशेष-देशी' इस विशेषण द्वारा उपर्युक्त तीनों पक्षों[१]का केवल निराकरण ही नहीं किया, प्रत्युत इस विधिवाक्यद्वारा सामान्य-विशेषकी भिन्नता या अभिन्नताविषयक वादमें जैनदर्शनका क्या मन्तव्य है, यह भी साफ़ प्रकट कर दिया है। जैनदर्शन इस विषयमें **कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नसामान्य**

१ सर्वथा अभिन्न सामान्य-विशेषवादी सांख्य और बौद्ध, सर्वथा भिन्न सामान्यविशेषवादी नैयायिक और वैशेषिक तथा सर्वथा अद्वैत सामान्यको माननेवाले वेदान्ती आदि ये ३ पक्ष हैं।

विशेषवादी है। द्रव्यदृष्टिसे सामान्य और विशेषमें कुछ अन्तर नहीं है, अतएव उस दृष्टिसे दोनों एक (अभिन्न) हैं और पर्यायदृष्टिसे—अर्थात् प्रतिसमय बदलती हुई पर्याय-हालतपर ध्यान देनेसे—दोनोंमें बहुत-कुछ अन्तर (भेद) है, अतएव उस दृष्टिसे दोनों भिन्न (अलग-अलग) हैं। इसी तरह समस्त सत्ताको अद्वैत माननेवाले अद्वैतवादियोंका भी इस विशेषणसे निरास हो जाता है, क्योंकि सामान्यविशेषका एकत्व (अद्वैत) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे उपलभ्यमान सामान्य-विशेषसे बाधित है। इस तरह उक्त विशेषकी भिन्नता-अभिन्नताविषयक विवाद या प्रवादका जैनदर्शनकी दृष्टिसे हल किया गया है।

इस प्रवादको हल करनेवाले जैनधर्मके अन्तिम (२४ वें) तीर्थङ्कर श्रीवर्द्धमानस्वामीको 'आनम्य' इस पद (शब्द) द्वारा मनसा, वचसा प्रणाम करके टीकाकार श्रीसिद्धर्षिगणि प्राचीन भारतीय-ग्रन्थ प्रणयनकी पद्धतिका, शिष्ट लोगोंकी परम्परानुसार, पालन करते हैं। प्राचीन परम्पराके अनुसार शिष्ट लोग ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्तिरूप फलकी सिद्धिके लिए ग्रन्थके आरम्भमें अभीष्ट देवताको नमस्कार करते चले आये हैं। उक्त मङ्गलाचरणमें भी इसी कारण इस ग्रन्थके व्याख्याकार श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान श्री वर्द्धमानस्वामीको नमस्कार करते हैं। 'वर्द्धमान' का अर्थ होता है 'मान-अहङ्कारको छिन्न करनेवाला'। उत्तरार्धमें वे **अभिधेय** (जो कुछ कहना है उसका सङ्केत) और **प्रयोजन**का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि अभिधेय, प्रयोजन और सम्बन्ध इन तीनके विना कहीं भी प्रेक्षावान लोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है। यहाँ यद्यपि मङ्गलाचरणके श्लोकमें 'सम्बन्ध' नहीं कहा है, फिर भी उसका ज्ञान सामर्थ्यसे (ऊपरसे) हो जाता है। न्यायावतार ग्रन्थ 'उपाय' (साधन) है और उसके विषयका ज्ञान 'उपेय' (साध्य) है। इस तरह ग्रन्थ और तत्प्रतिपाद्य विषयमें उपायोपेयलक्षण **सम्बन्ध** है।

२—न्यायावतारका अर्थ

'नि' पूर्वक 'इण्' धातुसे न्याय (नि + आय) शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है प्रमाण-मार्ग। 'नि'—न्यायके द्वारा हम खूब अच्छी तरह 'आय'—जीवाजीवादिक पदार्थोंको यथावस्थित रूपसे जानते हैं और प्रमाण-मार्गका भी यही कार्य है, अतः 'न्याय (नि + आय)' का अर्थ हुआ प्रमाण-मार्ग। 'अवतार' का अर्थ होता है तीर्थ (घाट), क्योंकि 'अवतारयतीति अवतारः' जिसके द्वारा या जिसमें प्राणी अवतरित होते हैं वह अवतार है। ऐसा 'अवतार' घाट ही है। 'न्यायस्य अवतारः न्यायावतारः' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ, जिसका अर्थ हुआ न्याय, अर्थात् प्रमाण-मार्ग, का घाट। इसका अभिप्रेत अर्थ यह हुआ कि जिस तरह घाटके द्वारा नदी आदिके पार उतरा जाता है, उसी तरह घाट-सदृश इस शास्त्रसे भी सावधानीके साथ न्याय-समुद्रके पार उतरा जा सकता है, अर्थात् इस शास्त्र-द्वारा न्यायशास्त्रके कतिपय या सर्व नियमोंको जान लेनेके बाद विवादस्थ किसी भी विषयको हल एवं उसके ऊपर शास्त्रार्थ (विवाद) किया जा सकता है।

यहाँपर (श्लोकमें) संस्कारको 'बीज' शब्दसे कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस तरह बीजसे अङ्कुर होता है, उसी तरह इस 'न्यायावतार' शास्त्रके संस्कारसे न्यायके सिद्धान्तों-नियमोंका स्मरण हो आता है।

३—मङ्गलाचरण-श्लोकगत दो विशेषणोंसे फलित चार अतिशय

प्राचीन कालमें और आजकल भी लोग ऐसे देवताका स्तवन करते हुए पाये जाते हैं, जिसमें कुछ अतिशय (असाधारण बात) हो, क्योंकि वे समझते थे कि निरतिशय देवताके स्तवनसे अभिप्रेत अर्थकी सिद्धि नहीं होगी। इस कारण, उक्त मङ्गलाचरणमें भी टीकाकार भगवानके चार अतिशयोंको ढूँढ़ निकालते हैं। वे अतिशय ये हैं :—१. **वचनातिशय**, २. **ज्ञानातिशय**, ३. **अपायापगमातिशय** और ४. **पूजातिशय**। 'अवियुतसामान्यविशेषदेशिनम्' इस पदसे भगवानका वचनातिशय कहा है। तथा विना ज्ञानातिशयके वचनातिशय होता नहीं है, अतः ज्ञानातिशय भी यहाँ समझना चाहिये। 'वर्धमानम्' इस पदसे अपायापगमातिशय सूचित किया है, क्योंकि भगवानने सर्व अनर्थोंकी जड़ अहङ्कारको जड़मूलसे उखाड़ दिया है। जबतक पूर्वमें अपायापगमातिशय, ज्ञानातिशय और वचनातिशय ये तीनों ही नहीं होते, तबतक पूजातिशय उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वह भी, उनके कार्यरूपसे, स्वयमेव आ ही जाता है, अथवा 'वर्धमान' का हम ऐसा अर्थ करेंगे कि जो अशोकादि अष्ट महाप्रातिहार्य सम्पत्तिसे बढ़ता चले वह वर्धमान है। तब इसी विशेषणसे पूजातिशय भी निकल आता है।

विशेषार्थ—न्यायावतार ग्रन्थके टीकाकार श्रीसिद्धर्षिगणि श्वेताम्बर परम्पराके विद्वान् हैं। श्वेताम्बर परम्परामें भगवानके विशेष गुणोंको 'अतिशय' शब्दसे कहा है और ऐसे अतिशय, यानी विशेष गुण, उक्त परम्परामें चार माने हैं, जिनके नाम हैं—१. **अपायापगमातिशय**, २. **ज्ञानातिशय**, ३. **वचनातिशय** और ४ **पूजातिशय**। इनमेंसे क्रमसे पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तरका कारण और उत्तरवर्ती पूर्ववर्तीका कार्य माना जाता है, क्योंकि सबसे पहले १२ वें गुणस्थान क्षीणकषायमें पूर्ण चारित्रमोहनीयकर्मका क्षय होता है, इस कारण सबसे पहले **अपायापगमातिशय** प्रस्फुटित होता है। तदनन्तर उक्त १२ वें गुणस्थानके ही अन्तिम समयमें पाँच ज्ञानावरणीयकर्मका अत्यन्त क्षय होता है, इससे **ज्ञानातिशय**की प्राप्ति होती है। तदनन्तर सर्वज्ञ होनेके बाद यदि तीर्थङ्कर हो तो भव्यजीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश करनेके कारण **वचनातिशय** भी प्रकट होता है, और इसके बाद **पूजातिशय** तो अपने आप ही इन तीनों पूर्वोक्त अतिशयोंके फल-स्वरूप, सर्वत्र दिखाई देता है।

इन्हीं उपर्युक्त अतिशयोंको दिगम्बर परम्परामें 'गुण' शब्दसे व्यवहृत किया है और वे चार न मानकर **तीन** ही माने गये हैं, यथा—१. **वीतरागत्वगुण** (अपायापगमातिशय), २. **सर्वज्ञत्वगुण** (ज्ञानातिशय), और ३. **हितोपदेशित्वगुण** (वचनातिशय)। ३. **पूजातिशय** (परमवन्द्यत्वगुण) यह चौथा गुण कोई पृथक्से नहीं माना गया है, बल्कि पूर्वके ही तीन गुणोंका कार्य या फल है, जो स्वयमेव होता है। इन्हीं तीन गुणोंको प्रसिद्ध दिगम्बरीय सम्प्रदायगत तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिके मंगलाचरणरूप श्लोकमें यों व्यक्त किया है:—

> मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
> ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥

यहाँ 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' पदसे हितोपदेशित्व, 'भेत्तारं कर्मभूभृतां' पदसे वीतरागत्व और 'ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां' पदसे सर्वज्ञत्व गुणका प्रतिपादन किया है। 'वन्दे' पद, जो कि परमवन्द्यत्व

गुणका सूचक है और जिसको पूजातिशयका समानान्तरवर्ती कहा जा सकता है, पूर्वोक्त तीनों गुणोंका फलितार्थ है, उसे अलग चौथा विशिष्ट गुण नहीं माना है। यह दोनों सम्प्रदायोंका विशिष्ट अन्तर द्रष्टव्य है।

४—प्राचीन ग्रन्थ-प्रणयन-परिपाटीमें आदि-वाक्यका स्थान

प्राचीन ग्रन्थ प्रणयन-परिपाटीमें जिस वाक्यका प्रथम प्रयोग किया जाता है, उसको 'आदि-वाक्य' कहते हैं। आदि-वाक्य ग्रन्थके **अभिधेय** (प्रतिपाद्य विषय), **प्रयोजन** (किसलिए ग्रन्थका प्रणयन किया जाता है वह उद्देश्य) और ग्रन्थका अभिधेयके साथ क्या **सम्बन्ध** है, इन तीनों बातोंका सूचन करता है।

इसी ग्रन्थ-प्रणयन-परिपाटीके अनुसार न्यायावतार सूत्र या ग्रन्थका यह आदि वाक्य है:—

" इस न्यायावतार शास्त्रकी रचना प्रमाणके व्युत्पादनके लिए की जाती है। "

यहाँ 'व्युत्पादन' से तात्पर्य दो बातोंसे है—एक तो यह कि प्रमाणका लक्षण वगैरः जैसा दूसरे मानते हैं, उसका हम निराकरण करेंगे, और दूसरे यह कि प्रमाणका लक्षण वगैरः जैसा हम मानते हैं, उसका प्रकाशन करेंगे। इस तरह व्युत्पादनका कार्य दूसरोंके द्वारा परिकल्पित लक्षणादिके निराकरण-पूर्वक अपनेको इष्ट लक्षणादिके स्वरूपका प्रकाशन है।

इस आदि-वाक्यको बौद्ध ग्रन्थकारोंने प्रमाण नहीं माना है। जब प्रमाण नहीं माना, तब उसके प्रयोगको क्यों माना ? इसके उत्तरमें धर्मोत्तर (बौद्ध ग्रन्थकार) कहते हैं—" प्रामाण्यके अभावमें इस आदि-वाक्यसे केवल अभिधेयादिका सूचन होता है और उस सूचनसे अर्थमें संशय होनेसे श्रोतागण किसी चीज़को ध्यानसे सुनते हैं। "—टीकाकार सिद्धर्षिगणिकी दृष्टिमें उसका यह कहना ठीक नहीं है। यदि वास्तवमें शब्दकी अर्थ-प्रकाशनमें सामर्थ्य नहीं है, तो यह शब्द (आदि-वाक्य), अभिधेयादिका प्रतिपादन तो अलग रहा, उसकी सूचना भी कैसे कर सकेगा ? और न, उसको अप्रमाण माननेपर, उसके सुननेसे विचारवान लोगोंको अर्थमें संशय ही हो सकता है। यदि अप्रामाणिक शब्दसे उन्हें संशय उत्पन्न होगा, तो वे फिर विचारवान ही कैसे कहलाएँगे ? दूसरे, संशय तो मिथ्याज्ञान है, उससे सुननेमें प्रवृत्ति मानोगे तो मिथ्याज्ञानसे भी बराबर प्रवृत्ति चलते रहनेका प्रसंग आ जायगा।

आदि-वाक्यका लक्ष्य क्या है, इस विषयमें अर्चट (बौद्ध दार्शनिक एवं ग्रन्थकार) का एक अपना अलग ही मत है। वे कहते हैं :—" जब आदि-वाक्य प्रमाण नहीं है, तब उससे श्रोताओंको उत्साहित होनेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि अप्रामाण्यसे किसीकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि फिर भी उनकी अप्रामाण्यसे प्रवृत्ति मानी जायगी, तो उनकी प्रेक्षावत्ता—विचारशीलताकी हानि होगी। तो फिर किसलिए आदि-वाक्यका प्रयोग मानना ? आदिवाक्यका प्रयोग इसलिए किया जाता है कि दूसरे लोग यदि कहें—और न लिखनेपर ऐसा कह सकते हैं—कि 'इस शास्त्रमें अभिधेयादि कुछ भी नहीं हैं,' सो उनकी इस बातके समाधानके लिये सबसे पहले ही 'आदि-वाक्य' द्वारा यह उद्घोषित कर दिया जाता है कि इस शास्त्रका अभिधेयादि यह है। 'आदि-वाक्य' का प्रयोग न करनेपर दुनियाँमें ऐसा कहनेवाले भी मिल सकते हैं—' जैसे कौवेके दाँतोंकी परीक्षा आदिमें अभिधेय सम्बन्ध और प्रयोजन

कुछ भी नहीं हैं, इस कारण उसको कोई भी शुरू नहीं करता है; वैसे ही इस प्रारम्भ किये जानेवाले प्रकरणमें अभिधेयादि न होनेसे उसे भी शुरू नहीं करना चाहिये।'—ऐसा कह सकनेवालोंके तर्कको खण्डित करनेके लिए प्रारम्भमें ही 'आदि-वाक्य' के द्वारा अभिधेयादिका प्रकाशन कर दिया जाता है। ऐसा होनेसे उक्त तर्कके लिए फिर अवकाश नही रह जाता। यही ग्रन्थारम्भमें आदि-वाक्यके रखनेका प्रयोजन है।"

अर्चटका उपर्युक्त कथन तो धर्मोत्तरके कथनसे भी खराब है, क्योंकि यदि, उनकी रायमें भी, आदि-वाक्य अप्रमाण है और इसी कारण अभिधेयादिको साक्षात् कहकर भी वह (आदि-वाक्य) प्रेक्षावान लोगोंकी प्रवृत्ति नहीं कराता हैं, तो दूसरोंके द्वारा उपस्थित तर्ककी असिद्धताको भी वह कैसे बतला सकता हैं? क्योंकि अप्रमाण तो अकिञ्चित्कर—कुछ भी नहीं करनेवाला है। जब कुछ भी नहीं करनेवाला है, तो फिर वह दूसरोंके द्वारा उपन्यस्त 'अभिधेयादिशून्यत्वात्' इस तर्ककी असिद्धता भी कैसे बतला सकेगा? अर्थात् नहीं बतला सकेगा। यदि अप्रमाणको अकिञ्चित्कर न मानकर 'किञ्चित्कर-कुछ करनेवाला' मानोगे, तो प्रमाणका विचार करना ही अनर्थक हो जायगा, क्योंकि सभी कुछ तो 'अप्रमाण' से हो जायगा, तब फिर 'प्रमाण' सिवाय झख मारनेके और क्या करेगा? इसलिए आदि-वाक्य प्रमाणभूत है और तब वह अभिधेयादिका प्रतिपादन करता हुआ प्रेक्षावान लोगोंकी प्रवृत्ति कराता है, और इसी कारण वह प्रकरणकी आदिमें रक्खा जाता है।

५—आदि-वाक्यकी प्रमाणता और अप्रमाणताके विषयमें विचार

(अ) इस विषयमें बौद्धका पूर्वपक्ष—'आदि-वाक्य अप्रमाण है।'

बौद्ध ग्रन्थकारोंमें धर्मोत्तर और अर्चट प्रसिद्ध ग्रन्थकार हैं; दोनों ही आदि-वाक्यके प्रयोगको प्रमाण नहीं मानते। वे कहते हैं कि—आदि-वाक्य शब्द-समूह है। शब्दमें अपने अर्थके प्रति न तो तादात्म्य-रूप[1] सम्बन्ध है, और न तदुत्पत्तिरूप[2]। दोनोंमेंसे किसी भी सम्बन्धके न होनेसे वह प्रमाण नहीं है। तादात्म्यलक्षण (अभिन्न—ओतप्रोत रूप) सम्बन्ध तो यों नहीं है कि शब्द और अर्थमें वैसी प्रतीति नहीं होती है। यदि उन दोनोंमें अप्रतीयमान भी तादात्म्यकी कल्पना करते हो, तो अग्नि, मोदक, (लड्डू) आदि शब्दोंके उच्चारणके अनन्तर मुखका जलना, भरना आदि हो जाना चाहिये, लेकिन ऐसा होता नहीं है। इसलिए शब्द और अर्थमें तादात्म्य सम्बन्ध तो है नहीं।

और न तदुत्पत्तिलक्षण सम्बन्ध ही बनता है। क्योंकि देखो, तदुत्पत्तिलक्षण सम्बन्ध किसी एकका किसी दूसरेसे उत्पन्न होनेका नाम है। यहाँ इस सम्बन्धका विचार शब्द और अर्थमें है, सो यहाँ दो ही विकल्प (भेद या पक्ष) हो सकते हैं—(१) एक तो यह कि शब्दसे अर्थ उत्पन्न होता है। (२) दूसरा यह कि अर्थसे शब्द उत्पन्न होता है? सो इसमेंसे पहला विकल्प तो हो नहीं सकता है, क्योंकि

---

१. तादात्म्यरूप सम्बन्ध अभिन्न सम्बन्ध है। २. तदुत्पत्तिरूप सम्बन्ध भिन्न होते हुए भी किसी एकका दूसरेसे उत्पन्न होनेका सम्बन्ध है।

शब्दसे अर्थ (पदार्थ) की उत्पत्ति स्वीकार करनेपर किसीकी भी इच्छा अपूर्ण न रहेगी, सब पूर्णेच्छ हो जाएँगे; 'मेरे पास करोड़ रुपयेका सोना हो जाय' ऐसा उच्चारण करते ही अत्यन्त दरिद्री भी पुरुष करोड़ रुपयेके सोनेका धनी हो जायगा। और न 'अर्थसे शब्द उत्पन्न होता है' यह द्वितीय विकल्प ही ठीक है, क्योंकि ऐसा माननेपर दो दोष उत्पन्न होंगे। वे दोष क्रमसे ये हैं :—

(अ) यदि अर्थ है, तो उस अर्थको कहनेवाले शब्दका ज्ञान भी अवश्य होना चाहिये; और यदि अर्थ नहीं है, तो उसको कहनेवाले शब्द या शब्दोंका भी ज्ञान नहीं होना चाहिये। परन्तु बात उल्टी देखी जाती है। जिस पुरुषको शब्द और अर्थका वाच्य-वाचकभाव सम्बन्धरूप संकेत मालूम नहीं है, उसे पहली बार ही 'पनस' (एक प्रकारका फल) के दीख जानेपर भी, तद्वाचक शब्दका ज्ञान नहीं है, तथा 'अङ्गुलिकी नोंकपर सौ हाथी हैं' इत्यादि शब्द बिना वैसे अर्थके विद्यमान होते हुए भी (क्योंकि वैसा वाच्य तो है नहीं), मुँहसे निकल जाते हैं।

(ब) अर्थके अन्दरसे शब्द सुनाई देने चाहिये। परन्तु केवल अर्थमात्रसे—पुरुष उसे जानना चाहे, इसकी बिना परवाह किये—शब्द निकलते हुए न देखे जाते हैं, और न ऐसा होता है। शब्दके निकलनेका क्रम इस प्रकार है:—पहले अर्थका दर्शन होता है, उसके बाद उसके प्रतिपादन (दूसरोंको बतलाने) की इच्छा होती है, फिर बोलनेकी इच्छा (विवक्षा) होती है; अनन्तर स्थान (मुँहके अन्दरसे जहाँसे शब्द निकलता है) और करण (इन्द्रिय) का परस्पर अभिघात (रगड़) होता है, और तब फिर शब्द निकलता है। इस तरह शब्द अर्थसे उत्पन्न नहीं होता है।

इस प्रकार तादात्म्य और तदुत्पत्ति दोनोंमेंसे किसीके भी न होनेसे बहिरर्थमें शब्दोंको प्रामाण्य नहीं है। जब शब्दोंको प्रामाण्य नहीं है, तो 'आदि-वाक्य' भी प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि वह तो शब्दोंका ही समूहमात्र है।

(ब) जैनका उत्तरपक्ष

१ 'तदुत्पत्ति', २ तदाकारता', ३ 'तदध्यवसाय' ये तीनों ज्ञान और अर्थके ग्राह्य-ग्राहक-भावमें कारण नहीं हैं

बौद्धके ऊपरके कथनका सारांश एक ही है कि जब शब्द और अर्थका परस्परमें कोई सम्बन्ध ही नहीं है, तब आदि-वाक्य—जो कि शब्द-समूह है–अपने अर्थ 'प्रमाण' को कैसे कहेगा? इसका उत्तर टीकाकार श्रीसिद्धर्षिगणि प्रतिपक्षीके रूपमें यों देते हैं कि तुम भी हमें यह बताओ कि—प्रत्यक्ष (ज्ञान) भी किस तरह अपने अर्थको ग्रहण कर सकेगा? कहोगे कि प्रत्यक्षमें प्रमाणता ग्राह्य-ग्राहकभावरूप सम्बन्धके बलसे है। प्रत्यक्ष (ज्ञान) ग्राहक है और अर्थ तथा उसकी प्रमाणता ग्राह्य है।—तो शब्दमें भी वाच्य-वाचकभावरूप सम्बन्धसे, अपने अर्थको बतानेमें प्रमाणता है। शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य है। यहाँ प्रकरणमें 'आदि-वाक्य' वाचक है और 'प्रमाण' वाच्य है। शब्द और अर्थमें वाच्य-वाचकभावरूप सम्बन्ध हो सकता है, यह बौद्धकी समझमें नहीं आता, उसकी समझमें यह तो भलीभाँति आता है कि प्रत्यक्ष (ज्ञान) और अर्थमें वेद्य-वेदक या ग्राह्य-ग्राहकभाव है। उसके मतसे प्रत्यक्ष और अर्थमें

रहनेवाला यह वेद्य-वेदकभाव तदुत्पत्ति और तदाकारताके बलसे है। सिद्धर्षिगणि जैनपक्षकी तरफ़से इसी बातका निरसन करते हैं वे कहते हैं। कि क्षणिक (बौद्ध) पक्षमें ज्ञान और ज्ञेय (अर्थ) में तदुत्पत्ति, तदाकारता और तदध्यवसाय भी नहीं बनता है, इनके न बननेसे उनमें ग्राह्य ग्राहकभाव नहीं बन सकता।

उनका पहला प्रश्न बौद्धसे यही है कि यह 'तदुत्पत्ति' क्या चीज़ है? यदि तदुत्पत्तिसे मतलब 'अर्थसे उत्पत्ति' है, तो जब अर्थ तुम्हारे मतमें प्रत्येक क्षणमें विनाशीक है, तब तदुत्पत्ति या तज्जन्यता बनती नहीं है। किस तरह?

१–तदुत्पत्ति ग्राह्य-ग्राहकभावमें कार्यकारी नहीं है

हम तुमसे पूछते हैं कि—क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाला अर्थ (१) **अपने क्षणमें**, अर्थात् जिस क्षणमें वह है उसी क्षणमें कार्य करेगा, या (२) **अपनेसे पूर्व क्षणमें**, या (३) **अपनेसे आगेके क्षणमें**, इन तीन पक्षोंमेंसे कौनसा पक्ष स्वीकार करते हो?

इनमेंसे (१) आद्य पक्ष तो स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जिस क्षणमें पदार्थ है, उसी क्षणमें व्यापार (क्रिया) नहीं होता; दोनोंका भिन्न क्षण होता है। अगर समकालभावी क्षणमें ही व्यापार या क्रिया होने लगे, तो सबसे भारी गड़बड़ यह हो जायगी, कि एक क्षणमें रहनेवाले जितने अर्थ हैं, उन सबमें परस्परमें कार्य-कारणभाव हो जायगा, और ऐसा होनेपर तत्प्रयुक्त ग्राह्य-ग्राहकभाव भी उनमें हो जायगा। (२) यदि स्वक्षणसे पूर्वमें क्षणनश्वर अर्थ कार्य करेगा, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ स्वयं विद्यमान नहीं है, उसका आगामी शङ्ख चक्रवर्ती आदिके समान, पूर्वकालवर्ती कार्यमें व्यापार नहीं होता। (३) यदि स्वक्षणसे आगेके क्षणमें वह कार्य करता है, तो यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जो विनष्ट हो चुका है, वह कार्य नहीं कर सकता है। अगर विनष्ट भी कार्य करने लगे, तो मरे हुए मोरकी भी आवाज़ होनी चाहिये।

२–तदाकारता भी ग्राह्य-ग्राहक-भावमें कार्यकारी नहीं है

तदाकारताके दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो, अर्थके आकारकी ज्ञानमें संक्रान्ति होना, अर्थात् अर्थका आकार ज्ञानमें चला जाना। दूसरा अर्थके सदृश ही ज्ञानकी उत्पत्ति होना, अर्थात् जैसा अर्थका आकार है वैसा ही आकार ज्ञानका भी होना। इन दो अर्थोंमेंसे बौद्धको कौनसा अर्थ इष्ट है? यदि वह पहला अर्थ मानता है, तो यह अयुक्त है, क्योंकि जब अर्थ अपना आकार ज्ञानको अर्पण कर देगा, तो एक तरफ़ तो वह स्वयं निराकार हो जायगा, और दूसरी तरफ़ अपने शरीरमें अत्यन्त विशाल अर्थ अथवा अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ भी दिखाई देने लगेंगे, और इतना ही क्यों पत्थर, समुद्र, इत्यादिका आकार अपने ज्ञान और तदुपरान्त शरीरमें प्रवेश कर जानेसे सिरका फटना, तैरना, या डूबना आदि भी बातें होने लगेंगी। यदि दूसरा अर्थ स्वीकार करते हो, तो 'सादृश्यके अनुसार अर्थकी व्यवस्था होती है' यह सिद्धान्त आया। सादृश्य बौद्धदर्शनमें तात्त्विक-असली नहीं है, क्योंकि तुमने पृथक्-पृथक्, क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले परमाणुरूप स्वलक्षणों[1] (पदार्थों) को पारमार्थिक स्वीकार किया है।

---

१. बौद्धदर्शनमें 'स्वलक्षण' यह पारिभाषिक शब्द है, इसका अर्थ पदार्थ या वस्तु होता है।

बौद्धदर्शनमें सादृश्यकी सत्ता अनादिकालसे चली आई हुई वासनाके ज्ञानसे मानी जाती है। तदनुसार, विना वासना-ज्ञानके हम सादृश्यको नहीं समझ सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें जबतक हमारे अन्दर वासना या वासनाज्ञान है तभी तक हमें सादृश्य नज़र आता है। इस सादृश्यका व्यवस्थापक विकल्प (व्यवसाय, निश्चय) है। यह विकल्प निर्विकल्पक (विकल्प या व्यवसायसे शून्य), विशद दर्शन—प्रत्यक्षज्ञानके उत्तर कालमें होता है, अर्थात् पहले दर्शन, फिर विकल्प। विकल्प या व्यवसायको बौद्धदर्शनमें प्रमाण (वास्तविक) नहीं माना है। इस तरह, बौद्धदर्शनमें सादृश्य वास्तविक न होकर अवास्तविक[1] है।

अब प्रश्न यह है कि ऐसे अवास्तविक ही सादृश्यसे या उसके जोरसे यदि बौद्ध अर्थका ग्रहण (ज्ञान) मानने लगे, तो उससे हानि क्या होगी? टीकाकारके मतसे हानि यह होगी कि जिस क्षण (समय) में एक नील पदार्थ (Indigo) है, उसी क्षणमें उसी नील पदार्थकी सब कालोंमें रहनेवाली, अर्थात् उसकी भूत या भावी नीलता तथा दूसरे पदार्थ कौवे, नील कमलादिकी नीलता भी बिना किसी भेदके, सादृश्यके जोरसे, समानरूपसे विद्यमान रहेगी, तब 'अमुककी नीलताका अमुक ज्ञान ग्राहक है' ऐसा प्रतिनियत (अलग-अलग) ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं घटेगा। इसके प्रत्युत्तरमें बौद्ध लोग यही कहते हैं कि—नीलताका विचार अङ्गुलिसे दिखायी गयी, सामने रक्खी हुई नील वस्तु (स्वलक्षण) के दर्शन (प्रत्यक्ष) से आया है। अतः वर्तमान नील स्वलक्षणकी नील ताका निश्चय सामने पुरस्कृत नीलस्व लक्षण-का दर्शन ही करायेगा, भूत या भावी नील स्वलक्षणका, या कौवे तथा नील कमल आदिके स्वलक्षणका दर्शन नहीं।—तो बौद्धोंके इस कथनसे विचार (विकल्प) स्वलक्षण (पदार्थ) में ही रहता है, कहीं बाहरसे नहीं आता है, यह निष्कर्ष निकला। वह उसी अर्थको ग्रहण करता है जो नियत देश और दशासे युक्त होनेपर अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है।

३—तदध्यवसाय (वस्तुके विकल्प) से भी ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं बनता

स्वलक्षण (वस्तु) का 'अध्यवसाय,' इससे तुम बौद्धोंका क्या मतलब है? क्या (१) स्वलक्षण-का **विकल्पन** (भेद विचार), या (२) उसका **ग्रहण**? (१) वस्तुका विचार तो उसका अध्यवसाय हो नहीं सकता है, क्योंकि विचार (विकल्प), आपके अभिप्रायसे वस्तुके अन्दर है नहीं। जैसा कि कहा है :—

"चूंकि ऐसा माननेसे शब्दार्थरूप वस्तुमें दोष आता है, इस कारण शब्द और सामान्यगोचर-सविकल्पक बुद्धियों (ज्ञानों) का आचार्य दिङ्नागने 'अन्यापोह' विषय कहा है। अन्यापोह विकल्प बुद्धिका प्रतिभास है। क्यों? इसका कारण यह है कि वस्तुमें शब्द और विकल्प (सामान्य) है ही नहीं ॥ १ ॥"

बौद्ध इसपर शायद कहे—विकल्प वास्तवमें सामान्यको ही विषय करता है, किन्तु प्रत्यक्ष और विकल्प इन दोनोंकी एक साथ ऐसी जल्दी-जल्दी प्रवृत्ति होती है कि अज्ञानीको दोनोंका पार्थक्य

---

१. 'अनादिकालालीनवासनाप्रबोधसंपादितसत्ताक' एवं 'निर्विकल्पकविविक्तदर्शनोत्तरकालभाविविकल्प-व्यवस्थापित' इन दोनों विशेषणोंसे सादृश्यकी अवास्तविकता बताई गई है।

एकदम नहीं मालूम होता और वह यही निश्चय कर बैठता है कि 'विकल्प भी स्वलक्षणनिष्ठ है।' कहा भी है—

"सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानोंके एकसाथ या जल्दी-जल्दी होनेसे विमूढ़ (भ्रान्त) प्रमाता उन दोनोंके ऐक्यका निश्चय करता है ॥ १ ॥"

जिस प्रकार किसीको शाखा और चन्द्रादि विषयकी सन्निधि (सम्पर्क) में उनके क्रमसे ग्रहणका निश्चय नहीं होता, उसी तरह किसी दूसरेको निर्विकल्पक (प्रत्यक्षज्ञान) के अनन्तर ही एकदम विकल्पके उत्पन्न हो जानेसे प्रत्यक्ष और विकल्पमें पार्थक्यका ज्ञान नहीं होता, बल्कि उनके ऐक्यका व्यवसाय (निश्चय) होता है। वास्तवमें तो उनमें कोई ऐक्य है नहीं। उक्त दोनों ज्ञानोंकी एक साथ वृत्ति इस तरह होती है—हमने किसी गायको देखा। गायका देखना यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। इस निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे तो स्वलक्षण (गाय) का ग्रहण होता है और उसी समयमें होनेवाले विकल्पसे गकारादि वर्णोंका,—अर्थात् 'गाय' पदार्थके देखते ही 'गाय' शब्दका भी तुरन्त ख़याल हो आता है। गाय पदार्थका देखना **प्रत्यक्ष या स्वलक्षण-दर्शन** है और गाय शब्दका ख़याल हो आना **विकल्प** है।—सिद्धर्षिगणि इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि, तो इस बातका भी कैसे निश्चय होगा कि 'ज्ञाता अज्ञानवश विकल्पसे स्वलक्षणका अध्यवसाय तो करता है, किन्तु उसके विशद निर्भाससे उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता है।' क्या इसके विश्वास करानेमें शपथकी ही ज़रूरत पड़ेगी? दूसरी बात यह है कि, यदि कोई तुमसे ऐसा उलटा कहे—'प्रत्यक्ष सभी पदार्थोंको विषय करता है, अर्थात् उनका अध्यवसाय करता है, विकल्प मोहसे तो सन्निहित विषयको देखता भर ही है,' तो उसका खण्डन करना मुश्किल हो जायगा, क्योंकि इस विषयमें जैसे तुम शपथ खाते हो, वैसे ही वह भी खायेगा। तब बिना युक्तिके निर्णय कैसे होगा कि विकल्पका कार्य यह है, और प्रत्यक्षका कार्य यह है।

(२) यदि स्वलक्षणके ग्रहणको स्वलक्षणका अध्यवसाय कहते हो, तो विकल्पकी स्वलक्षणनिष्ठता अपने ही मुखसे आपने स्वीकार कर ली। इस तरह दोनों ही पक्षोंमें विकल्पकी सत्ता अर्थक्रिया (अपना कार्य करने) में समर्थ अर्थमें ही दिखाई देगी, उससे बाहर नहीं। कहनेका सारांश यह हुआ कि विकल्प जब कभी होगा वह अपने कार्यके करनेमें समर्थ अर्थमें ही होगा। अतएव बिना अर्थके विकल्पका उद्भव ही संभव नहीं है। विकल्पके पेटमें अर्थ पहलेसे ही गर्भित है।

विकल्प और शब्द सहभावी हैं

और जब 'विकल्प स्वलक्षणरूप महलके अन्दर विराजता है' ऐसा कहते हो, तो ध्वनि (शब्द) का भी स्वलक्षणके भीतर प्रवेश दुर्निवार हो जायगा—अर्थात् 'शब्दका विषय स्वलक्षण है' इस तथ्यको कोई हटा नहीं सकेगा, क्योंकि विकल्प और ध्वनि सहभावी हैं, जैसा कि आपके एक आचार्यने कहा है :—"वही शब्दोंका विषय है, जो विकल्पोंका है।" और यह विकल्प ही सादृश्यका व्यवस्थापक है, प्रत्यक्ष तो अन्य तमाम जगत्के पदार्थोंसे विभिन्न स्वलक्षणके ग्रहणमें ही प्रवीण है। सो यदि स्वलक्षणकी सदृशताकी ज्ञानमें उत्पत्ति ही 'तदाकारता' है, तो प्रतिपादित न्यायानुसार विकल्पके सन्निहित अर्थकी विषयता भी स्वीकार करनी चाहिए। तब 'ध्वनि भी सन्निहित अर्थको विषय करनेवाली सिद्ध होती है'

ऐसा जो ढंग स्याद्वादियोंका समीहित (इष्ट) था, वह सिद्ध हो गया। अगर विकल्प ज्ञानमें सन्निहित अर्थकी विषयता न होगी, तो तदाकारता (अर्थाकारता) उसमें न बन सकेगी, क्योंकि सन्निहित अर्थकी विषयताके सिवाय अर्थाकारताका और कोई अर्थ नहीं हो सकता।

इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि बौद्धाभिमत तदुत्पत्ति और तदाकारता ग्राह्य-ग्राहकभावमें कारण नहीं हैं।

तदुत्पत्ति और तदाकारताको ग्राह्य-ग्राहकभावमें कारण माननेपर भी अन्य दोषापत्ति

थोड़ी देरको इन्हें ग्राह्य-ग्राहकभावमें कारण मान भी लिया जाय, तो भी तो यह बात नहीं बनती है। अन्य दूषण आकर इस बातका समर्थन नहीं होने देते हैं। देखो, तदुत्पत्ति और तदाकारता (१) **अलग-अलग** ग्रहण (जानने) के कारण हैं, या (२) **मिलकर**? यदि इन दोनोंको अलग-अलग कारण मानोगे, तो कपाल (घड़ेके फूटनेसे जो उसके दो या दोसे ज्यादा ठीकरे हो जाते हैं उन्हें संस्कृतमें 'कपाल' कहते हैं) का क्षण घड़ेके अन्त्य क्षणका ग्राहक हो जाता है, क्योंकि वह (कपालक्षण) उससे जन्य है। इस तरह तो अकेली 'तदुत्पत्ति'से काम नहीं बना। अकेली 'तदाकारता'से भी काम नहीं बनता, देखो जलगत चन्द्रमा (चन्द्रमाका जो जलमें प्रतिबिंब पड़ रहा है उसे जलचन्द्र कहते हैं) आकाश चन्द्रमाका ग्राहक नहीं होता। अकेली 'तदाकारता' को कारण माननेपर तो हो जाना चाहिये था, क्योंकि जलचन्द्रमें नभश्चन्द्रका आकार है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि न अकेली 'तदुत्पत्ति' और न अकेली 'तदाकारता' ग्राह्य-ग्राहकभावमें कारण है। (२) यदि द्वितीय पक्ष मानोगे, तो घड़ेका उत्तर क्षण अपने पूर्वक्षणका ग्राहक हो जाता है, क्योंकि घड़ेका उत्तरक्षण अपने पूर्वक्षणसे उत्पन्न भी है और उसके आकारका भी है।

इसपर शायद बौद्ध कहे—कि अर्थ तो जड़ है, इसलिए उसे ग्राहकत्व नहीं है। ग्राहकत्व तो तदुत्पत्ति और तदाकारताके होनेपर ज्ञानको है।—तो यह बात भी बौद्धकी बनती नहीं है। देखो, पूर्वक्षणमें समान एकसे अर्थोंको ग्रहण करनेवाले तुलनात्मक ज्ञान (मनस्कार) से उत्पन्न ज्ञान (निश्चित ज्ञान) में ग्राहकत्व नहीं रहता, क्योंकि यह उत्पाद्य, निश्चित एवं एककोटिक ज्ञान अपने उत्पादक प्राक्तन क्षणवर्ती मनस्कार- तुलनात्मक ज्ञानको ग्रहण नहीं करता है।

विशेषार्थ—जैनके ऊपरके कथनको यों स्पष्ट समझना चाहिये। जब हम किसी एक किस्मके पदार्थोंमेंसे तुलनात्मक ज्ञानद्वारा किसी एक निर्णयपर पहुँचना चाहते हैं, तब हमारा पूर्वक्षणवर्ती ज्ञान 'तुलनात्मक ज्ञान' है और तुलना करनेके बाद जब हम किसी अभीष्ट निर्णयपर पहुँच जाते हैं, तब हमारा वह उत्तरक्षणवर्ती ज्ञान 'निर्णीत ज्ञान' कहलाता है। जैसे हमसे किसीने कहा कि 'इनमेंसे कोई अच्छी कुर्सी छाँटकर ले आओ।' तब हम पहले क्षणमें सारी कुर्सियोंपर एक साथ ही नज़र डालते हैं और साथ ही एक-एककी, उसके गुण-दोषोंद्वारा, परीक्षा करनेके बाद जो कुर्सी हमें सबमें सर्वांगसुन्दर एवं सुविधाजनक मालूम पड़ती है, उसे हम 'सबसे अच्छी' करार दे देते हैं। यही उत्तरवर्ती ज्ञानक्षण 'निर्णीत ज्ञान' कहलाता है। पूर्वका 'तुलनात्मक ज्ञानक्षण' उत्पादक है और उत्तरका

'निर्णीत ज्ञानक्षण ' **उत्पाद्य** है। ज्ञान दोनों ही हैं। यहाँ देखना यही है कि उत्तरक्षणवर्ती निर्णीत ज्ञान यद्यपि प्राक्तनक्षणवर्ती तुलनात्मक ज्ञान (समानार्थग्राहिप्राचीनसंवेदनक्षण) से उत्पन्न हुआ है और उसीके आकाररूप है, तथापि वह उत्पादक प्राक्तनक्षणवर्ती तुलनात्मक ज्ञान (मनस्कार) को नहीं ग्रहण करता है, क्योंकि जहाँ प्राक्तनक्षणवर्ती तुलनात्मक ज्ञानमें एक जातिकी **अनेक वस्तुओंका** ज्ञान रहता है, वहाँ उत्तरक्षणवर्ती निर्णीतज्ञानमें केवल उसी जातिकी **एक ही वस्तुका** ज्ञान होता है। यह इन दोनों ज्ञानोंमें बड़ा भारी फ़र्क है, और इसी फ़र्कके कारण **एकवस्तुगत** उत्पाद्यज्ञान—जो निर्णीतज्ञान है—कैसे **अनेकवस्तुगत** उत्पादक ज्ञान—जो तुलनात्मक ज्ञान है—को ग्रहण कर सकता है ?

इस आपत्तिके उत्तरमें बौद्धप्रक्रिया कहती है कि तदध्यवसाय—उत्पादकके विकल्पनके साथ-साथ जो तदुत्पत्ति और तदाकारता हैं, उन्हें ही ग्रहणका संपूर्ण कारण कहा गया है। मनस्कार या तुलनात्मक ज्ञानमें, तदध्यवसायताके न होनेसे ग्रहण (जानने) का संपूर्ण कारणपना नहीं है। जैन इसके प्रत्युत्तरमें कहता है कि जब तुम तदध्यवसाय-सहकृत तदुत्पत्ति और तदाकारताको ग्रहणमें संपूर्ण (अविकल) कारण मानते हो, तो यह हमारी समझमें नहीं आया कि ग्रहणकार्यरूप एक ही प्रवृत्तिमें भिन्न-भिन्न विषयक ज्ञानोंका मेल कैसे खायेगा ? आपके दर्शनमें अध्यवसाय या विकल्पका विषय 'सामान्य' माना है। यह 'सामान्य' आपके मतसे अनर्थ (अर्थसे भिन्न) है। प्रत्यक्षका विषय अर्थ है। इस तरह, हम देखते हैं कि एकका विषय 'अनर्थ' है, जब कि दूसरेका विषय 'अर्थ' है। इन विरुद्ध दिशाओंको विषय करनेवाले विकल्प और प्रत्यक्षका, दूसरे शब्दोंमें तदध्यवसाय और तदुत्पत्ति एवं तदाकारताका, जाननेरूप एक ही प्रवृत्तिमें मेल नहीं बैठ सकता। यह तो हुआ **विषयकी दृष्टिसे** दोनोंका बिल्कुल दो दिशाओंकी तरफ जानेवाला पार्थक्य। **उत्पत्तिकी दृष्टिसे** भी दोनों भिन्न हैं। आपके दर्शनके अनुसार, अध्यवसाय वासनाके प्रबोधसे उत्पन्न होता है, अर्थात् इसकी उत्पत्तिमें ज्ञान कारण है, फिर चाहे वह वासनाका ही ज्ञान क्यों न हो। प्रत्यक्ष बाह्यार्थसे उत्पन्न होता है, अर्थात् उसकी उत्पत्तिमें जड़ कारण है। इस तरह दोनोंकी उत्पत्ति भी भिन्न-भिन्न कारणसे है। इसलिए विकल्प या अध्यवसायकी सहायता प्रत्यक्षमें हो नहीं सकती है, क्योंकि दोनोंका **विषय** और **उत्पत्तिका कारण** अलग-अलग है।

सो जो आपने प्रत्यक्षज्ञानमें भी ग्राह्य-ग्राहक अर्थका कारण अलग-अलग तदुत्पत्ति या तदाकारता, अथवा तदध्यवसाय-सहकृत संयुक्त इन दोनोंको कारण माना था, उसपर हम जितना-जितना ही विचार करते हैं, उतना-उतना ही वह असंगत एवं गलत मालूम होता जाता है। अतः वह अपेक्षणीय नहीं है।

सो प्रत्यक्षज्ञानमें ग्राह्य-ग्राहकभावका कारण अंशरूपसे भी न तो तदुत्पत्ति है, न तदाकारता है और न इन दोनोंका मेल ही उसका कारण है; फिर भी जिस तरह प्रत्यक्षज्ञान और अर्थमें ग्राह्य-ग्राहकभाव देखा जानेसे, तथा वैसा न माननेपर निखिल व्यवहारके उच्छेद हो जानेका प्रसंग आजानेसे, प्रत्यक्षको ग्राहक और अर्थको ग्राह्य आपने प्रतिपादन किया है; उसी तरह शब्द और अर्थमें भी शब्दको वाचक और अर्थको वाच्य आप प्रतिपादन करो, क्योंकि शब्द-अर्थमें भी ऐसा (वाच्य-वाचकभाव) न माननेसे दृष्टकी हानि—सभीको शब्द 'वाचक' और अर्थ 'वाच्य' नज़र पड़ते हैं, इस बातकी हानि—अभाव और व्यवहारका उच्छेद आपातित है।

जैनमतानुसार शब्द-अर्थका सम्बन्ध

यहाँ परमार्थसे जैनोंके मतमें कथञ्चित्तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध शब्द और अर्थमें है, जैसा कि भगवान् भद्रबाहुस्वामीने कहा है—

गाथा—अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिन्नं अभिन्नं च।
खुर अग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उ वयणसवणाणं ॥ १ ॥
विच्छेदो न वि दाहो न पूरणं तेण भिन्नं तु।
जम्हा य मोयगुच्चारणम्मि तत्थेव पच्चओ होइ ॥ २ ॥
न य होइ स अन्नत्थे तेण अभिन्नं तदत्थाओ ॥ इति ॥

छाया—अभिधानमभिधेयाद् भवति भिन्नमभिन्नंतु च।
खुराग्निमोदकोच्चारणे यस्मात्तु वदनश्रवणयोः ॥ १ ॥
विच्छेदो नापि दाहो न पूरणं तेन भिन्नं तु।
यस्माच्च मोदकोच्चारणे तत्रैव प्रत्ययो भवति ॥ २ ॥
नच भवति स अन्यार्थे तेनाभिन्नं तदर्थात्।

अर्थात्—' शब्द (अभिधान) अर्थ (अभिधेय) से भिन्न और अभिन्न दोनों ही है। चूंकि खुर, अग्नि, मोदक इनका उच्चारण करनेसे वक्ताके मुँह और श्रोताके कान नष्ट या जल या भर नहीं जाते हैं, इसलिए तो अर्थसे शब्द कथञ्चिद्भिन्न है; और चूंकि 'मोदक' शब्दसे 'मोदक' अर्थमें ही ज्ञान होता है और किसी पदार्थमें नहीं होता, इसलिए अपने अर्थसे शब्द कथञ्चित् अभिन्न है।'

यहाँ अगर ऐसा बौद्ध कहे—' कोई-कोई वचन ऐसे होते हैं जिनसे ठगाये जानेके सिवा और कोई मतलब नहीं निकलता। उदाहरणार्थ, किसीने कहा—" नदीके तीरपर गुड़की गाड़ी आई है, बालको जाओ, दौड़ो।" तो ऐसे वचनसे प्रवृत्ति करनेवाले केवल ठगाये जाते हैं। इस तरह कुछ वचनोंकी ऐसी हालत देखनेसे यदि समस्त वचनों-शब्दोंमें ऐसा ही अनाश्वास हो जाय, तो क्या हानि है ? '—इसके उत्तरमें जैन कहते हैं कि ऐसे तो एक प्रत्यक्षके विषयको झूठा या गलत देख करके जितने भी प्रत्यक्ष हैं, उन सबमें भी आश्वास नहीं रहेगा। उदाहरणार्थ, मरुस्थलकी चमचमाती हुई बालूके ढेरको जल समझने-वाला विशद दर्शन (प्रत्यक्ष) झूठा ही देखा गया है, तो क्या इस कारण सभी प्रत्यक्ष, चाहे वे सब प्रकारसे सत्य ही क्यों न हों, झूठे या गलत समझे जायँगे ? सभी प्रत्यक्ष तो झूठे हो नहीं सकते हैं। इसी तरह किसी-किसी वचनके झूठे निकल जानेसे सभी वचन या कथन झूठे साबित नहीं हो सकते हैं। 'जिस प्रत्यक्षज्ञानमें पीछेसे बाधा आवे, अर्थात् जिसका विषय जैसा पहले समझा था, बादमें वह वैसा न निकले, कोई दूसरा ही पदार्थ निकले, तब वह ज्ञान अप्रमाण है। मरीचिकामें जो जलका ज्ञान हो रहा है, वह पीछे हमेशा वैसा ही नहीं रहता, किन्तु वह जलका ज्ञान

नष्ट होकर अन्तमें मरीचिका (बालू) मरीचिका ही मालूम पड़ने लगती है। यहाँ भी पूर्व जलज्ञानका बाधक उत्तरवर्ती मरीचिकाज्ञान है, अतः वह अप्रमाण है। शेष अबाधित सत्यस्तम्भ आदिके ज्ञान अप्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वे बादमें बाधक ज्ञानसे रहित हैं। उनका विषय पूर्व-जैसा ही हमेशा बना रहता है, कोई दूसरा पदार्थ बादमें उनका विषय नहीं होता। '—ऐसा खुलासा यदि बौद्ध करे, तो क्या शब्दमें भी यही न्याय कौओंने खा लिया है ? हम भी तो सभी शब्दोंमें प्रामाण्य नहीं मानते हैं। तो फिर किसमें मानते हैं ? सिर्फ उन्हीं शब्दों या वचनोंमें प्रामाण्य मानते हैं, जिनका आप्तप्रणेतृत्व (आप्तकेद्वारा कहा जाना) प्रत्यक्षप्रमाणसे भलीप्रकार निश्चित है। इसलिए, जहाँतक प्रामाण्यका संबंध है वहाँतक, प्रत्यक्ष और शब्दमें कोई भी विशेषता या अन्तर नहीं देखते हैं। इतना ही अन्तर है कि—प्रत्यक्षज्ञान चक्षु आदि सामग्रीविशेषसे उत्पन्न होनेसे सन्निहित (समीपवर्ती) नियत अर्थको ग्रहण करनेवाला **स्पष्ट प्रतिभास** है; शब्दसे होनेवाला शब्दज्ञान, उस तरहके कारणके न होनेसे, नियत एवं अनियत अर्थको ग्रहण करनेवाला **अस्पष्ट प्रतिभास** है। लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस अन्तरसे प्रामाण्यमें कोई क्षति नहीं होती है, नहीं तो अनुमानको भी अप्रामाण्य प्राप्त हो जायगा, क्योंकि वह भी अविशद, अनियत अर्थका ग्राही है।

असलमें तो प्रत्यक्षज्ञान, शाब्दज्ञान ये जीवद्रव्यके परिणामविशेष हैं। जीवद्रव्य त्रिकालव्यापी है; उसका स्वभाव समस्त अर्थोंको ग्रहण करनेका है, पर आवरणके लगे होनेके कारण ऐसा नहीं कर सकता है। चक्षुरादि सामग्री–कारणकलापकी उसे अपेक्षा करनी पड़ती है और चक्षुरादि सामग्रीके मिल जानेपर भी उस-उस इन्द्रियके आवरणके क्षयोपशम (घटती) की जरूरत पड़ती है। इतना होनेपर समीपवर्ती स्पष्ट अर्थको ग्रहण करनेवाला जीवद्रव्यका परिणाम 'प्रत्यक्ष' कहाता है। इसी तरह शब्दसापेक्ष श्रोत्रेन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे अर्थात् जितनी-जितनी कान इन्द्रियके आवरणकी घटती होगी, उतनी उतनी स्पष्टतासे कान नियत तथा अनियत अर्थको ग्रहण करेगा। कान तो इसमें एक साधनमात्र है, द्वार है, किन्तु वह क्षयोपशम (आवरणकी घटती) जनित विशुद्धि तो आत्मा या जीवद्रव्यकी ही चीज है, अतः सभी ज्ञान, चाहे वे प्रत्यक्ष हों, शाब्द हों, या आनुमानिक हों, अन्तमें आत्माके ही परिणाम हैं। बाह्य साधनभिन्नतासे उन्हें लोकमें अलग-अलग नाम दिये हैं, जैसे जो आँख आदिसे उत्पन्न हो वह प्रत्यक्षज्ञान है और जो शब्दसे हो वह शाब्दज्ञान है, इत्यादि। इस दृष्टिसे तदुत्पत्ति और तदाकारता प्रत्यक्ष, शाब्द, या अन्य किसी ज्ञानमें वास्तविक नहीं है।

अतः यह आदि-वाक्य परमार्थरूपसे अभिधेय, प्रयोजन और सम्बन्धका प्रतिपादक है, यही सिद्ध हुआ।

६–अभिधेयादिका तात्पर्यार्थ

अभिधेय 'वाच्य' को कहते हैं, और वह यहाँपर 'प्रमाण' है, क्योंकि वही यहाँपर प्रकरण (शास्त्र) से प्रतिपाद्य है। जो कहा जाय वह अभिधेय; 'प्रमाण' ही यहाँ शास्त्रके द्वारा कहा गया है, अतः इस न्यायावतार-प्रकरणमें 'प्रमाण' अभिधेय है। "प्रमाणव्युत्पादनार्थमिदमारभ्यते" ग्रन्थकार श्रीसिद्धसेनदिवाकरके इस आदि-वाक्यमें 'प्रमाण' इस शब्दसे यह बात व्यक्त भी की गयी है।

प्रयोजन दो प्रकारका होता है—एक तो श्रोताका और दूसरा कर्त्ता (ग्रन्थकार या वक्ता) का। इन दोनोंका भी प्रयोजन दो-दो प्रकारका होता है—एक तो **अनन्तर**, अर्थात् साक्षात् और दूसरा व्यवहित, अर्थात् परोक्ष या दूरका। इनमेंसे श्रोताका अनन्तर प्रयोजन प्रमाणविषयक व्युत्पत्ति (प्रमाणका जानना) है और कर्त्ताका शिष्यका व्युत्पादन अर्थात् शिष्यको ज्ञान देना है। श्रोता तो साक्षात् यह जानना चाहता है कि प्रमाण क्या है, और वक्ता यह चाहता है कि श्रोता या शिष्य मेरी प्रमाणविषयक बातको समझ जाये। बस, यही दोनोंका अलग-अलग अनन्तर प्रयोजन है। इनमेंसे अपने प्रयोजनको कर्त्ता (ग्रन्थकार) 'आरभ्यते—आरम्भ किया जाता है' इस पदसे दिखाते हैं। शिष्यका प्रयोजन तो 'वि + उत् + पत् = व्युत्पत्' उपसर्गों और धातुके इस समुदायसे ही 'व्युत्पादन' के अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि जहाँ 'व्युत्पादन-बताने' का प्रयोजन है वहाँ 'व्युत्पत्ति जानने' का भी प्रयोजन आ ही जाता है। गुरु या वक्ता व्युत्पादन किसको करे यदि कोई शिष्य या श्रोता व्युत्पत्ति (जानने की ही इच्छा करनेवाला न हो। अतः ग्रन्थकर्त्ताके द्वारा प्रमाण-व्युत्पादनमें ही श्रोता या शिष्यकी प्रमाण-व्युत्पत्ति प्रयोजनसे आ जाती है। व्यवहित प्रयोजन दो प्रकारका होता है—**व्यावहारिक** और **पारमार्थिक**। व्यावहारिक प्रयोजन हेय, उपादेय, और उपेक्षणीय अर्थोंमें क्रमसे हान (त्याग), उपादान (ग्रहण) और उपेक्षा है, परमार्थिक प्रयोजन-अभ्युदय सांसारिक कल्याण और निःश्रेयस —मुक्तिकी प्राप्ति है। यह व्यवहित प्रयोजन यद्यपि मूलमें श्रीसिद्धसेनदिवाकरने कहा नहीं है, तथापि अनन्तर प्रयोजनका यह फल है, अतः उसका कथन करनेसे ही यह अपने-आप आया हुआ जान लेना चाहिये।

सम्बन्ध यहाँपर उपायोपेयरूप है। इनमेंसे 'उपेय' प्रकरण (न्यायावतार ग्रन्थ) के अर्थ (प्रमाण) का परिज्ञान है और प्रकरण 'उपाय' है। इसलिए प्रकरणके अर्थका, अर्थात् प्रमाणका, परिज्ञान करनेकी इच्छा रखनेवाले व्यक्तिको 'यह प्रकरण आरम्भणीय है' ऐसा शब्दसे न कहनेपर भी दोनोंका उक्त सम्बन्ध मतलबसे जान लेना चाहिये।

७—'प्रमाणव्युत्पादनार्थमिदमारभ्यते' इस आदि-वाक्यका अक्षरार्थ

उक्त आदि-वाक्यके अक्षरोंके अर्थका खुलासा इस प्रकार है। किसी भी शब्दकी व्युत्पत्ति उसका जाननारूप विशेष छः कारकों और भावसाधनद्वारा सुलभ होता है। 'प्रमाण' शब्दकी उत्पत्ति भी छः कारकों और भावसाधनमें हो सकती है। कर्त्ता कारकमें 'प्रमाण' का अर्थ आत्मा, कर्मकारकमें अर्थ पदार्थ, करणकारकमें ज्ञान, सम्प्रदान कारकमें अर्थक्रिया, अपादान कारकमें कारणकलाप, अधिकरण कारकमें क्षयोपशम और भावसाधनमें प्रमितिमात्र क्रिया होता है।

अब यहाँ देखना यह है कि प्रमाणके इन सात अर्थोंमेंसे इस न्यायावतार प्रकरणमें कौनसा अर्थ अभीष्ट होगा। यहाँ ज्ञानका अधिकार है। ज्ञान ही परीक्षामें ठीक उतर सकता है, क्योंकि औरोंकी परीक्षा उसी पूर्वक होती है, अतः और अर्थोंकी (शेष छः की) परीक्षा व्यर्थ है। वहाँ बताते हैं—कर्त्ता-कारकनिष्पन्न **आत्माकी** परीक्षासे तो कोई मतलब नहीं निकलेगा, क्योंकि वह भ्रान्त और अभ्रान्त दोनों ज्ञानोंमें समानरूपसे रहता है। अर्थकी परीक्षासे भी कोई मतलब नहीं, क्योंकि वह उपेय है, उसका

काम तो उपायभूत ज्ञानके परीक्षणसे ही चल जायगा। **अर्थक्रियाकी** परीक्षासे भी कोई मतलब नहीं सधेगा, क्योंकि ज्ञानकी कमीमें उसकी परीक्षा ही नहीं हो सकती। **कारणकलाप**की परीक्षा भी व्यर्थ है, क्योंकि विना ज्ञानके कारणकलापका ही स्वरूप समझमें नहीं आ सकता। ज्ञानके स्वरूपका निर्णय होजानेके बाद ही कारणकलापके ठीक या गलत होनेका ज्ञान होता है। इसलिए ज्ञानके स्वरूपके निर्णयसे पहले कारणकलापकी परीक्षा की निरर्थकता है। **क्षयोपशमकी** परीक्षासे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि क्षयोपशमका तो ज्ञानके उत्पादसे ही निर्णय होगा। अन्तमें **प्रमितिमात्रकी** परीक्षासे भी कोई मतलब न सधेगा, क्योंकि वह प्रमाणसे साध्य-सिद्ध करने योग्य है, इसलिए प्रमाणकी अनिन्धता द्वारा ही उसकी भी समीचीनता सिद्ध होगी। इस सारे कथनका तात्पर्य यह है कि 'प्रमाण' शब्दके कई अर्थ होते हैं। उनमेंसे जो अर्थ जहाँपर इष्ट हो वह वहाँपर लेना, क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मोंसे भरी हुई है। यहाँ पर हमको 'प्रमीयतेऽनेन=जिससे ठीक-ठीक जाना जाय' इस करणसाधनके अर्थसे प्रमाणका अर्थ ज्ञान ही इष्ट है। उसीके द्वारा प्रमाता (ज्ञाता) अर्थको जानकर अर्थक्रिया—अपने कार्यके कर देनेमें समर्थ अर्थकी चाहना करके प्रवृत्ति करता है। यह ज्ञान आत्मामें रहता है, इसलिए वह उससे धर्मरूपतासे अभिन्न है, और आत्माका वह धर्म है, अतः वह उससे धर्मरूपतासे भिन्न भी है। यह तो हुआ प्रमाण' शब्दका अर्थ। उसका 'व्युत्पादन' क्या है? व्युत्पादनका अर्थ 'दूसरोंके द्वारा परिकल्पित लक्षणादिका निराकरण' तो है ही, साथ ही 'अपनेको इष्ट लक्षणादिके स्वरूपका प्रकाशन' भी है। इस उभय प्रवृत्तिका नाम 'व्युत्पादन' है। 'अर्थ' शब्दका अर्थ प्रयोजन है। 'इदम्' से मतलब अर्थरूपसे अपने चित्तमें रहनेवाले प्रकरण (शास्त्र) के स्वरूपसे है। प्रकरणका शरीर या स्वरूप दो प्रकारका होता है—एक तो शब्दरूप, और दूसरा अर्थरूप। बाहर शब्दोंमें प्रकरणका प्रकाशन पीछे होता है, पहले अपने भीतर तत्त्वरूपसे निश्चित अर्थोंमें वह पहलेसे ही विद्यमान रहता है। 'आरभ्यते' का अर्थ होता है—पद, वाक्य और श्लोकादिकी रचनासे युक्त किया जाता है॥

१—विविध दर्शनोंका प्रमाणके लक्षण, संख्या, विषय और फलमें विवाद

न्यायशास्त्रमें प्रमाणके लक्षण, संख्या, गोचर (विषय) और फलमें दर्शनोंका विवाद है। सो ही दिखाते हैं:—

१. सौगतादि दर्शनोंके नामोंका निर्वचन—

जो फिरसे न लौटे ऐसी गति (गत) जिसकी होगई है, अथवा जिसका ज्ञान (गत) अच्छा है, वह सुगत है, सुगत जिनका देवता है, या सुगतके जो माननेवाले हैं वे **सौगत** हैं। पूजित विचारमें 'मीमांसा' शब्दका प्रयोग होता है, उसको जो जानें या पढ़ें वे **मीमांसक** कहाते हैं। अथवा, प्रमाण, प्रमेय आदि वस्तुसमूहका जो यथावस्थित स्वरूपसे विचार करते हैं वे **मीमांसक** हैं। न्यायको जो जानते या पढ़ते हैं, वे **नैयायिक** हैं। नित्य द्रव्यमें बचते बचते जो चीजें बच जाती हैं, जिनका कभी नाश नहीं होता, वे विशेष हैं। विशेषोंका ही दूसरा नाम वैशेषिक है। उस वैशेषिकको जो जानते या पढ़ते हैं, वे **वैशेषिक** हैं। पच्चीस तत्त्वोंका नाम संख्या है; उसको जो जानते या पढ़ते हैं, वे **सांख्य** हैं।

१. पहले प्रमाणके **लक्षणमें**—जिसमें कोई विसंवाद (झगड़ा) नहीं है, ऐसे ज्ञानको सौगत (बौद्ध) प्रमाण मानते हैं। जो अनधिगत—नहीं जाने हुए अर्थको जानता है वह प्रमाण है, ऐसा मीमांसकोंका मत है। अर्थकी उपलब्धिमें जो कारण है वह प्रमाण है, ऐसा नैयायिक आदि कहते हैं।

२. प्रमाणकी **संख्यामें**—प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं, ऐसा **सौगत** मानते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव, ये छः प्रमाण हैं, ऐसा **मीमांसक** कहते हैं। **नैयायिकोंके** मतमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान ये चार ही प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीनको **वैशेषिक** प्रमाण मानते हैं। यह मत **व्योमशिवके** अभिप्रायके अनुसार है। **कन्दलीकारने** तो वैशेषिकोंके यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण बताये हैं। इन्हीं तीन (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द या आगम) को **सांख्य** प्रमाण मानता है। एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, ऐसा **चार्वाक** कहते हैं। निम्नलिखित श्लोक अनेक प्रमाणोंकी संख्याका संग्राहक है—

> **चार्वाको**ऽध्यक्षमेकं, **सुगतकणभुजौ** सानुमानं, सशाब्दं
> तद्द्वैतं **पारमर्षः**, सहितमुपमया तत्त्रयं **चाक्षपादः**।
> अर्थापत्त्या **प्रभाकृद्** वदति, स निखिलं मन्यते **भट्ट** एतत्
> साभावं, द्वे प्रमाणे **जिनपतिसमये** स्पष्टतोऽस्पष्टतश्च ॥

३. प्रमाणके **विषयमें**—परस्परमें अलग-अलग क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले परमाणुरूप स्वलक्षण (वस्तु) प्रमाणके वास्तविक विषय हैं (स्कन्ध नहीं), ऐसा **बौद्ध** मानते हैं। **मीमांसकोंके** मतसे सामान्यविशेषात्मक वस्तु प्रमाणका विषय है। **नैयायिक** और **वैशेषिकोंके** यहाँ परस्परमें अलग (भिन्न) ऐसे सामान्य-विशेष प्रमाणके विषय हैं। जिस सामान्यके सत्त्व, रज और तम ये तीन स्वभाव हैं, ऐसा सामान्य **सांख्योंकी** दृष्टिमें प्रमाणका विषय है। पृथ्वी, अप् (जल), तेज (अग्नि), वायु ये चार भूत हैं। ये ही भूत-चतुष्टय **चार्वाकोंके** यहाँ प्रमाणके विषय हैं। कोई-कोई चार्वाक आकाशको पाँचवाँ भूत मानकर जगत् पञ्चभूतात्मक है, ऐसा भी कहते हैं।

४. प्रमाणके **फलमें**—अर्थका ज्ञान प्रमाणका फल है, ऐसा **सौगत** कहता है। पूर्व-पूर्वके प्रमाण हैं और आगे-आगेके फल हैं, ऐसा **मीमांसादिक** मानते हैं।

इनमेंसे पहले **लक्षण** और **संख्याके** झगड़ेको मिटानेकी इच्छासे ग्रन्थकार श्रीसिद्धसेन दिवाकर कहते हैं—

> **कारिका—प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं, बाधविवर्जितम्।**
> **प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा, मेयविनिश्चयात् ॥ १ ॥**

अर्थः—' जो प्रमाण है वह स्वपराभासि, बाधविवर्जित ज्ञान ही हो सकता है, अथवा जो स्व-पर-प्रकाशक बाधा रहित ज्ञान है, वही प्रमाण हो सकता है। [यहाँ दोनों वाक्योंमें यह अन्तर जानना कि

पहले वाक्यमें प्रमाण ‘ उद्देश्य ’ है और ज्ञान ‘ विधेय ’ है। दूसरे वाक्यमें ज्ञान ‘ उद्देश्य ’ है और प्रमाण ‘ विधेय ’ है।] प्रमेयके दो प्रकार होनेसे प्रमाण भी दो प्रकारका है—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष ॥ १ ॥

भावोद्घाटन—इस श्लोकमें पूर्वार्धके द्वारा लक्षणविप्रतिपत्ति और उत्तरार्धके द्वारा संख्याविप्रतिपत्तिका निराकरण करते हैं। पररूपोंसे अलग करनेमें समर्थ जो वस्तुका असाधारण धर्म है, वह लक्षण है। जिसके द्वारा लक्ष्य (जिसका लक्षण किया गया है, जिसको पहिचानना है) विजातीय पदार्थोंसे भिन्न पहिचाननेमें आये, उसे ‘ लक्षण ’ कहा जाता है। उस लक्षणको यहाँ दो प्रकारके पात्रोंमें बताना है—एक तो उनमें जो विवादमें पड़े हुए (विप्रतिपन्न) तीर्थान्तरीय (जैन-दर्शनसे भिन्न दर्शन माननेवाले) लोग हैं, जिनका अन्तःकरण अपने-अपने दर्शनमें अनुरक्त है, और इसी कारण जो समझाने लायक हैं; दूसरे वे साधारण मुग्ध बुद्धि लोग हैं जो कि अव्युत्पन्न-मूर्ख हैं। पहले प्रकारके पात्र प्रमाणशास्त्रको समझते तो हैं, पर ज्ञानकी विशिष्टताकी कमीके कारण ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते, या गलत निर्णय कर लेते हैं। दूसरे प्रकारके पात्र प्रमाणशास्त्रको ही नहीं अभी समझते हैं, वे इस शास्त्रमें अभी प्रारम्भक हैं। एक दूसरी बात जो यहाँ ध्यानमें लेने योग्य है वह यह है कि जो सिद्ध है, प्रसिद्ध है वह हमेशा **लक्ष्य** होता है और जो असिद्ध है, अप्रसिद्ध है वह **लक्षण** होता है। पहले प्रकारके पात्रोंमें ‘प्रमाण’ प्रसिद्ध है अतएव वह लक्ष्य है, किन्तु वह प्रमाण कौन वस्तु हो सकती है? जिसके द्वारा उसको पहिचाना जा सके, इस विषयमें वे एकमत नहीं हैं। इनमेंसे कोई किसीको प्रमाण कहता है, कोई किसीको। इस तरह वे किसी निर्णयपर नहीं पहुँच सके तथा जिस निर्णयपर वे पहुँचे वह ठीक नहीं है। इसलिए ऐसे लोगोंकी अपेक्षा प्रमाण और ज्ञानमें लक्ष्य-लक्षणभाव इस तरह समझना कि–‘ जो तुम लोगों और हम (जैन) लोगोंके बीचमें प्रसिद्ध प्रमाण है, वह स्वपरका प्रकाश करनेवाला ज्ञान ही हो सकता है और उस ज्ञानमें पीछेसे किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा बाधा नहीं आनी चाहिये; यदि बाधा आ जावेगी तो वह ज्ञान प्रमाण नहीं, अप्रमाण हो जावेगा। ’ ऐसे लोगोंके लिए **प्रमाण** ‘लक्ष्य’ है और स्वपराभासि बाधविवर्जित **ज्ञान** ‘लक्षण’ है, क्योंकि प्रमाण तो उनके लिए प्रसिद्ध है, परन्तु प्रमाणमय बनी हुई वस्तु जो ज्ञान है, वह उनके लिए अप्रसिद्ध है, और कथन करनेकी यह शैली है कि प्रसिद्धका कथन करके अप्रसिद्धका विधान करना चाहिये। दूसरे प्रकारके पात्र जो अव्युत्पन्नमति हैं, वे यह तो समझते हैं कि प्रत्येक प्राणीमें कोई ज्ञान नामकी चीज़ तो अवश्य रहती है, जो स्वपरप्रकाशी है, बाधासे रहित है, क्योंकि अगर ऐसा नहीं होगा तो संसारका जो अलग-अलग प्रकट व्यवहार दीखता है, उसका उच्छेद हो जायगा। उन्हें इस तरहसे समझाना चाहिये—‘ यह जो आपको किसी प्राणीमें नियत अर्थको ग्रहण करनेवाला, बाधासे रहित ज्ञान दीखता है, वह प्रमाण है। ऐसे लोगोंके लिए **ज्ञान** ‘लक्ष्य’ है और **प्रमाण** ‘लक्षण’ है। इस तरह दोनों प्रकारके लोगोंके लिए उनकी बुद्धिके अनुसार सिद्धका अनुवाद करके असिद्धका विधान करना चाहिये, और ऐसा करनेमें लक्ष्य-लक्षणभावके विषय **प्रमाण** और **ज्ञान** एक-दूसरेके प्रति बिल्कुल बदल जायँगे। विप्रतिपन्नोंको **प्रमाण** सिद्ध है, जब कि अव्युत्पन्नोंको वह असिद्ध है, विप्रतिपन्नोंको ‘ स्वपराभासि ’ और ‘ बाधविवर्जित ’ विशेषणोंसे विशिष्ट **ज्ञान** असिद्ध है, जबकि वह अव्युत्पन्नोंको, अपने अनुभवके बलपर, सिद्ध है। इन्हीं दो पात्रोंको लक्ष्यमें रखकर लक्ष्य-लक्षणभावमें वैयात्य (विपरीतपना) हो जानेके कारण मूल कारिकाके पूर्वार्द्धका अर्थ दो रूपसे किया है, यह ध्यानमें रखना चाहिये।

कारिकाके पूर्वार्द्धका अक्षरार्थ:—'प्रमाण' का अर्थ पहले कह ही दिया है। स्वयं अपनेको और अर्थको, दोनोंको जिसका प्रकाशित करनेका स्वभाव है वह 'स्वपराभासि' है। जिससे तत्त्व (पदार्थ) जाना जाय, उसका निर्णय हो, वह 'ज्ञान' है जिससे बाधा आवे वह बाध है, अर्थात् 'बाध' विपरीत अर्थके उपस्थापक किसी प्रमाण की प्रवृत्तिका नाम है। उससे बिलकुल रहित जो ज्ञान है वह प्रमाण है।

यह नियम है कि किसी वस्तु (लक्ष्य) के लक्षण करनेमें विशेषण या विशेषणोंकी प्रवृत्ति व्यवच्छेद्य—जिस वस्तुका उस लक्षणमें समावेश नहीं करना है—की अपेक्षासे होती है। यहाँ भी 'स्वपराभासि' इस विशेषणसे जो ज्ञानको स्वाभासी ही मानते हैं; ऐसे ज्ञानवादी बौद्धविशेषोंका, और उसको जो पराभासी ही मानते हैं, ऐसे मीमांसक तथा नैयायिकआदिका निरास किया है।

(१) ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध (योगाचार) का निरास

ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध बाह्य अर्थ नहीं मानते हैं, इसलिए उनके अनुसार ज्ञान अपनेको ही जानता है। अपनेको जाननेसे ही ज्ञानकी सत्ता है। अन्य (अपनेसे भिन्न) कोई ज्ञेय पदार्थ नहीं है। ऐसा जो उनका कहना है वह अयुक्त है, क्योंकि ज्ञेयरूप अर्थके अभावमें ज्ञानके भी अभावका प्रसङ्ग हो जायगा। कहोगे कि—स्वप्नदशामें अर्थके न होनेपर भी ज्ञानमें वन, देव और कुल आदि नाना वस्तुएँ दिखाई देती हैं, इस कारण सभी ज्ञान विना अर्थके होते हैं।—सो ऐसी बात नहीं है। स्वप्नदशावर्ती ज्ञानमें वे ही वस्तुएँ दिखाई देती हैं जिन्हें अनेक बार, नहीं तो कम-से-कम एक बार, अपने जाग्रदवस्थाभावी ज्ञानमें देख या अनुभव कर चुके हैं। ऐसी एक भी वस्तु हमें स्वप्नमें दिखाई नहीं देती या अनुभवमें नहीं आती, जिसको हमने पूर्वमें जाग्रदवस्थामें देख या अनुभव नहीं कर लिया है। देखी या अनुभवकी हुई वस्तुका आत्मामें एक संस्कार पड़जाता है, उस संस्कारका प्रबोध (ज्ञान) निद्रादि कारण-कलापसे स्वप्नदशामें होना चाहिये। यदि उस संस्कारका प्रबोध स्वप्नदशाके ज्ञानमें नहीं होगा, तो उस दशामें वस्तुका अनुभव भी नहीं होगा। स्वप्नदशामें किसी वस्तुका अनुभव होनेके लिए दो बातोंकी परम आवश्यकता है—एक तो जाग्रदवस्थामें होनेवाले वास्तविक अर्थके दर्शनसे आत्मामें **उस अर्थका संस्कार** होना चाहिये; दूसरे निद्रा, दही आदिका भोजन, सजल देशका समीपमें होना, रात्रि आदि कालका होना, वातादिमय प्रकृति होना तथा वातादि दोषसे दूषित होना, इत्यादि कारण-कलापोंसे **उस संस्कारका स्वप्नदशामें प्रबोध** भी होना चाहिये। इन दोनों बातोंमेंसे किसी एकका भी अभाव स्वप्नदशामें वस्तुका अनुभव नहीं करायेगा। इसका अर्थ हुआ कि पूर्वमें अर्थके सद्भाव और उसका अनुभव रहनेपर ही स्वप्नमें कोई दिखाई दे रहा है, विना अर्थके सद्भाव या विना उसका अनुभव हुए नहीं। अन्यथा जो भूतपञ्चक अत्यन्त अनुभवमें आ रहे हैं, उनको छोड़कर छठे भूतका भी प्रतिभास हो जाना चाहिये। परन्तु नहीं होता, क्योंकि उसका सद्भाव ही नहीं है। जब सद्भाव ही नहीं है, तो उसका अनुभव तो और भी दूर रहा।

एक और दूसरी बात। हमें आप बताइये कि जब बाह्य अर्थ है नहीं, तब एक ही ज्ञानकी सफेद, पीली आदि अनेक पर्यायें (विवर्त) किस कारणसे हो जाती हैं ? कहोगे कि—अनादिकालीन अविद्याकी वासनासे ऐसा होता है, तो यहाँ भी दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—उस ज्ञानसे वह वासना (१) भिन्न है कि (२) अभिन्न है ? अगर (१) भिन्न कहोगे तो, उसका ग्राहक कोई प्रमाण बताना चाहिये, जो कि दोनोंको भिन्न ग्रहण करता हो। वासनाका ज्ञानसे भिन्न संवेदन नहीं होता है, और यदि होता है, तो अर्थका भी ज्ञानसे भिन्न संवेदन होता है, अतः उसका प्रतिषेध नहीं कर सकते हैं। यदि आप इसका उत्तर यह दें कि—वासना केवल वेद्यवेदकाकार-कलुषित ज्ञानसे ही भिन्न है, ज्ञान-मात्रसे भिन्न नहीं। वेद्यवेदकाकार-कलुषज्ञानकी तो वह जननी है। पूर्वक्षणवर्तिनी ज्ञानरूप वासना उत्तरक्षणवर्ती वेद्यवेदकाकार-कलुष विज्ञानको जन्म देती है, अतः वह ज्ञानरूप ही है, ऐसा अनुमान किया जाता है—तो यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि वासनाके साथ वेद्यवेदकाकार-कलुषज्ञानका कोई कार्य-कारणभावरूप सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता। ग्रहण न होनेका कारण, ग्राहक आत्माका अभाव है। आपके मतमें पूर्वापर क्षणोंमें रहनेवाले ज्ञानसे भिन्न आत्मा नामका कोई ग्राहक तो है नहीं, जो कि दोनोंके कार्य-कारणभावको जाने। पूर्वक्षणमें रहनेवाला वासनारूप ज्ञान उत्तरक्षणवर्ती वेद्यवेदकाकारका ग्राहक नहीं है और उत्तरक्षणवर्ती वेद्यवेदकाकाररूप ज्ञान पूर्वक्षणवर्ती कारणभूत वासनारूप ज्ञानका ग्राहक नहीं है। इन दोनों क्षणोंमें रहनेवाली आत्माको आप स्वीकार नहीं करते हैं। तब इन दोनोंके कार्यकारणभावका कैसे पता चलेगा ? दूसरे, दृष्टकी हानि और अदृष्टकी परिकल्पनाका प्रसङ्ग हो जायगा। हम व्यवहारमें प्रत्यक्ष देखते हैं कि घटादि सहित चक्षुरादि सामग्री—कारण-कलापसे, अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा ज्ञान होता है, इस दृष्ट व्यवहारकी आपके मतसे हानि (अभाव) हो जायगी, क्योंकि आप तो कहते हैं कि ज्ञानकी उत्पत्ति वासनासे होती है। इतना ही नहीं, इस सिद्धान्तसे अदृष्ट—जो बात आजतक देखी नहीं, उसकी कल्पना भी होती है। यह आजतक नहीं देखा या सुना कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे असंवेद्यमान वासनासे सित-पीत आदि नानाकारोंका प्रत्यक्ष होता है। पर, आप तो ऐसा मानते ही हैं। यह हमारे लिए आपके मतमें अदृष्टकी परिकल्पना है। तीसरे, आपके मतानुसार जैसे अपनेसे भिन्न वासनाके वशसे एक ही ज्ञान नानाकार हो जाता है, वैसे ही वह ज्ञान जड़ (अचिद्रूप) होते हुए भी वासनाके वशसे ही ज्ञानरूपसे प्रकाशित होता है, ऐसा माननेमें क्या हानि है ? इस विपरीत आपत्तिसे भी अर्थकी ही सिद्धि होती है, ज्ञानकी नहीं। (२) यदि ज्ञानसे वह वासना अव्यतिरिक्त (अभिन्न) है, तो खेदकी बात है वह ज्ञान ही है वासना नहीं, ज्ञानसे अभिन्न होनेसे, ज्ञानके स्वरूपके समान। इस तरह-इस विषयको यहीं खतम करते हैं।

(२) ज्ञानपरोक्षवादी मीमांसक नैयायिक आदिका निरास

मीमांसक, नैयायिक आदि दर्शनकार ज्ञानको स्वप्रकाशके अभावसे पराभासी बोलते हैं, लेकिन उनका यह मन्तव्य सम्बद्ध-सुसंगत नहीं है। स्वप्रकाशके अभावमें परका प्रकाश बन नहीं सकता है। लोकमें भी हम देखते हैं कि जबतक प्रदीप (दिआ) अपनेको ही प्रकाशित नहीं करता है, तबतक

घट आदि पदार्थोंको भी प्रकाशित नहीं कर सकता है। यदि यह अर्थ ही स्वयं अपनेको न जाननेवाले ज्ञानसे अपना (अर्थका) ग्रहण कराता है, तो देवदत्तके ज्ञानसे यज्ञदत्तको ज्ञान हो जाना चाहिये, क्योंकि दोनोंमें (देवदत्त और यज्ञदत्तके ज्ञानोंमें) कोई विशेषता तो है नहीं। जैसे बिना अपनेको जाने देवदत्तका ज्ञान अर्थको जानता है, वैसे ही यज्ञदत्तका ज्ञान स्वयं अपनेको नहीं जान रहा है, फिर भी देवदत्तके ज्ञानका क्या विषय है, यह उसको मालूम हो जाना चाहिये। देवदत्तके ज्ञानके विषयका मालूम हो जाना ही यहाँ देवदत्तके ज्ञानका यज्ञदत्तको ज्ञान हो जाना है। इसमें आपको कोई आपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि आप तो मानते हैं कि 'स्वयं अप्रतीयमान भी ज्ञान अर्थका ग्राहक है।' यह केवल अर्थमें ही क्यों, आपके सिद्धान्तके अनुसार तो दूसरेके ज्ञानके प्रति भी लागू हो जायगा। तब देवदत्तके ज्ञानसे यज्ञदत्तको ज्ञान हो जाना अवश्यम्भावी है।

इस विषयमें दूसरी आपत्ति यह है कि यदि ज्ञानको परप्रकाशक ही मानें, तो वस्तुओंमें यह दूर-आसन्न (समीप) आदिका भेद दिखाई देता है, वह किस अपेक्षासे होगा? शरीरापेक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि स्वयं शरीर तो ऐसा नहीं जानता कि 'मैं इससे दूर या निकट हूँ,' अथवा, 'यह इससे दूर या निकट है;' वह तो स्वयं ही दूसरेसे जाना जाता है। इसलिए ऐसी कोई वस्तु होनी चाहिये जिसका आकार (रूप) अन्तर्मुख हो, यानी जो स्वयं अपनेको समझ सकती हो, जान सकती हो, तथा ग्रहण कर सकती हो। ऐसी वस्तुके जब बहिरर्थका ग्रहण होगा तभी यह दूरासन्नादिका भेद घटित हो सकता है, अन्यथा नहीं। कदाचित् कोई कहे कि—अर्थापत्ति आदि जो दूसरे प्रमाण हैं उन्हींके अन्दर इस दूर या निकटका भेद समा जाता है, सो उनसे दूर-आसन्न आदिका भेद जान लेंगे।—तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि हम इसमें भी यह पूँछेंगे कि—वह प्रमाणान्तर स्वप्रकाशक है कि **अन्यप्रकाशक**? यदि स्वप्रकाशक है, तो प्रथम ज्ञानमें ही कौनसी कमी आ गयी थी, जिससे वह तो स्वप्रकाशक नहीं हुआ और यह हो गया? यदि अन्यप्रकाशक है, तो यहाँ भी वही बात फिर आती है कि यह बिना स्वप्रकाशक हुए अन्यप्रकाशक हो नहीं सकता है। अतः प्रमाणसे इसमें परप्रकाशकत्व माननेपर फिर वही स्वप्रकाशक और परप्रकाशकरूप दो विकल्पजनित अनवस्था आ जायगी। इसलिए स्वरूपको प्रकाशित करके ही ज्ञान अर्थ ग्रहण करता है, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

२ 'ज्ञान' विशेष्यकी सार्थकता

'ज्ञानम्' इस विशेष्य पदसे तो नैयायिकादिकने जो सन्निकर्षको प्रमाण माना है, उसके प्रामाण्य का निरास किया है। जिससे प्रमाता लोग स्नान, पान, अवगाहन आदि अर्थक्रिया करनेमें समर्थ अर्थका पता लगाकर उसमें फिर साक्षात् प्रवृत्ति करते हैं, ऐसा ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, सन्निकर्ष नहीं, क्योंकि वह जड है। उससे तत्काल साक्षात् निर्णय नहीं होता। कदाचित् कहो कि—उससे अर्थकी उपलब्धि प्राप्ति तो हो जाती है, अतः उसे प्रमाण मानेंगे, तो फिर तो प्रमाणकी संख्या ही नष्ट हो जायगी, क्योंकि अर्थकी उपलब्धिका कारण तो देहादि भी हैं, अतः इन्हे भी प्रमाण मानना पड़ेगा। इसलिए इस मुद्देको यहीं समाप्त करते हैं।

३. 'बाधासे रहित' विशेषणकी सार्थकता

'बाधविवर्जितम्' इस विशेषणसे तो जो कभी-कभी अन्धकारादिके कारण आँखोंकी किरणोंके फैल जाने आदिसे आकाशमें दो चन्द्रमा दिखाई देने लगते हैं, या कुतर्कसे भ्रान्त चित्तवालोंका अपने-अपने दर्शनके सुननेसे 'वस्तु क्षणक्षयी है, एकान्तरूपसे सामान्यविशेषात्मक है, यह लोक ईश्वरादिकृत है,' इत्यादि ज्ञान होता है, उसका निरास किया है, क्योंकि बादमें प्रमाणान्तरोंसे इस ज्ञानसे उल्टी बातें सिद्ध होती हैं। विशेषार्थक 'वि' शब्दके लगानेसे तो यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञान बाधासे वर्जित ही नहीं, बल्कि 'बिलकुल (वि)' वर्जित होना चाहिये। उसमें केवल अपने ज्ञानसे ही बाधाका अभाव न हो, किन्तु दूसरोंके ज्ञानसे भी बाधा नहीं आनी चाहिये। तभी वह 'बिलकुल बाधासे रहित' हुआ कहा जायगा। उदाहरणके लिए, अत्यधिक कामला (एक तरहका पीलिआ रोग) के अवलेप (पटल) से जिनकी आँखोंकी ज्योति बहुत कम हो गई है ऐसे व्यक्तियोंका जो श्वेत कमलमें पीले कमलका ज्ञान होता है, वह यद्यपि जबतक वह कामला दोष दूर नहीं हो जायगा, तबतक हमेशा बराबर होता रहेगा, उसमें अपने ज्ञानसे किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आवेगी, फिर भी वह दूसरे लोगोंके उस कमलकी सफेदीको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षसे बाधित है, अतः प्रमाण नहीं है।

४. प्रमाणके समस्त लक्षणका फलितार्थ

'स्वपराभासि बाधविवर्जितं ज्ञानं प्रमाणम्' प्रमाणके इस समस्त लक्षणसे तो जो दूसरे लोग (१) 'अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम्', (२) 'अविसंवादकं प्रमाणम्', (३) 'अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्' इत्यादिरूप प्रमाणका लक्षण करते हैं, उसका निरास किया है। वही क्रमसे बताते हैं:—

(१) मीमांसकके 'अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम्' का खण्डन

'अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं—नहीं जाने गये अर्थका जानना' इसका क्या अर्थ है? 'ज्ञानान्तरसे नहीं जाने गये अर्थको जो जानता है वह प्रमाण है,' यह इसका अर्थ है, यदि ऐसा कहते हो तो—वह ज्ञानान्तर (१) **परकीय** है या (२) **स्वकीय** है? (१) वह ज्ञानान्तर यदि **परकीय** है, तो यह बात अयुक्त है, क्योंकि सर्वज्ञका ज्ञान तो सकल अर्थोंको जानता है और सर्वज्ञ अपनेसे पर है, तब सब साधारण लोगोंका ज्ञान अधिगत अर्थको जाननेके कारण अप्रमाण हो जायगा; दूसरे यह भी संभव है, कि सर्वज्ञके अतिरिक्त और कोई दूसरा मनुष्य उस अर्थको जानता हो, या भूतकालमें उसने जाना हो जिसको हम जान रहे हैं या हमने जाना है। (२) यदि **स्वकीय** है, तो वहाँ भी वह जानने योग्य अर्थ क्या

(अ) द्रव्य है, या
(आ) पर्याय है, या
(इ) द्रव्यविशिष्टपर्याय है, या

(ई) पर्यायविशिष्टद्रव्य है, या

(उ) सामान्य है, या

(ऊ) विशेष है, या

(ए) सामान्यविशिष्ट विशेष है, या

(ऐ) विशेषविशिष्ट सामान्य है ?

ये आठ पक्ष हैं। इनमेंसे यदि (अ) पहला पक्ष मानते हो, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यके नित्य और एक होनेसे उसका अनधिगत अंश कोई भी बाकी नहीं है। (आ) यदि दूसरा, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पर्याय तो एकक्षणवर्ती होती है, वह तो प्राचीन संवेदनके समयमें ही ध्वस्त होगई, अब जबतक दूसरा संवेदन उत्पन्न न हो उतने काल तक उसकी प्रतीक्षा नहीं की जा सकती है, इसलिए 'अनधिगत' यह जो अर्थका विशेषण है वह व्यर्थ पड़ जायगा। (इ) अगर तीसरा पक्ष मानते हो, तो वह भी सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि इस पक्षमें हमारे दो विकल्प हैं, उनसे यह पक्ष बचकर नहीं जा सकता है। वह द्रव्यविशिष्टपर्याय **समकालभावी** ज्ञानसे न जानी हुई होकरके जानी जाती है, या **कालान्तरभावी** ज्ञानसे न जानी हुई होकरके जानी जाती है? (१) समकालभावी ज्ञानसे न जानी हुई हो करके तो वह जानी नहीं जाती है, क्योंकि समकालभावी तो कोई ज्ञान ही नहीं है जिससे 'अनधिगत' होकर फिर जानी जाये, अतएव 'समकालभावी स्वकीय ज्ञानान्तरसे अनधिगत' इसमें 'समकालभावी' यह विशेषण विफल हो जायगा। एक ही प्रमाता (ज्ञाता) के एक ही कालमें द्रव्यके अन्दर निविष्ट ऐसी एक पर्यायको विषय करनेवाले दो संवेदनोंकी प्रवृत्ति संभव नहीं है, क्योंकि वैसा अनुभव नहीं होता। ऐसा किसीको भी अनुभव नहीं होता कि वह एक ही समयमें दो ज्ञानोंसे द्रव्यकी पर्यायको जान रहा है। दूसरी बात, ऐसा माननेमें, यह होगी कि द्रव्यकी पर्यायको जाननेवाला जैसे एक ज्ञान मौजूद है, वैसे ही उसी पर्यायको जाननेवाला दूसरा ज्ञान भी उसी समय मौजूद है, तब अधिगत अर्थको जाननेके कारण परस्परमें अप्रामाण्य हो जायगा। (२) और न कालान्तरभावी ज्ञानसे न जानी हुई होकरके वह जानी जा सकती है, क्योंकि एकबार जानी गई पर्यायका कालान्तर नहीं हुआ करता है। एक पर्यायका सम्बन्ध, पूर्वोत्तर क्षणोंसे अलग केवल वर्तमान क्षणसे ही रहता है। जो पर्याय एक क्षणमें हो करके चली गयी है वही फिर नहीं आ सकती, हाँ, तत्सदृश आ सकती है, लेकिन वह तो दूसरी पर्याय हुई। इस कथनसे (ई) पर्यायविशिष्टद्रव्यपक्षका भी निरास होगया, क्योंकि पूर्वपक्षके समान ही इस पक्षमें भी दूषण आते हैं और उनका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता है।

यदि स्वकीय ज्ञानान्तरसे अनधिगत अर्थ (उ) 'सामान्य' है, तो यह बात भी संगत नहीं है, क्योंकि 'सामान्य' तो एक हुआ करता है, अतः प्रथम ज्ञानसे उसका सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण हो जानेसे आगेके सामान्य ज्ञानोंको अधिगत अर्थकी गोचरता होनेसे अप्रामाण्यका प्रसंग आ जायगा। यदि वह अनधिगत अर्थ (ऊ) 'विशेष' है, तो यह बताओ कि वह विशेष नित्य है कि अनित्य? अगर नित्य है, तो पहले संवेदनसे ही उसके सामान्यका ग्रहण हो जानेसे आगेके तद्विषयक जो ज्ञान हैं,

उन्हें अधिगतगोचरत्व होनेसे अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी। और यदि अनित्य है, तो पर्याय-पक्षमें जो दूषण आता है वह यहाँ भी आयेगा। यदि कहोगे (ए) 'सामान्यविशिष्ट विशेष' स्वकीय ज्ञानान्तरसे अनधिगत अर्थ है, तो इसकी विशिष्टता क्या है? क्या दोनोंमें **तादात्म्य** (अभिन्नता) है, या **सन्निधि (निकटपना) मात्र** है? अगर दोनोंमें **तादात्म्यरूप** विशिष्टता है, तो प्रथम ज्ञानसे जैसे सामान्यका ग्रहण हो जाता है वैसे ही तादात्म्यका भी ग्रहण हो जायगा। अगर ग्रहण नहीं होगा तो तादात्म्यकी क्षति हो जायगी, अर्थात् फिर वह अभिन्न सम्बन्ध नहीं कहलायेगा। और ग्रहण हो जानेपर तद्विषयक अन्य ज्ञानोंको अप्रामाण्यका प्रसङ्ग हो जायगा। यदि **सन्निधिरूप ही** विशिष्टता है, तो दोनोंके ही परस्परमें अलग-अलग रूप होनेसे दोनों पक्षोंमें अलग-अलग जो दूषण आते थे वे यहाँ भी आयँगे। (ऐ) 'विशेषविशिष्ट सामान्य' पक्षमें यही बात उलटी लगाना। इसलिए ज्ञानका 'अनधिगत अर्थका जाननापना' किसी भी तरह विचारदृष्टिमें ठहरता नहीं है, अतः वह अलक्षण है, प्रमाणका वह लक्षण नहीं है, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

(२) बौद्धके 'अविसंवादकं प्रमाणम्' का विचार

अब अविसंवादकत्वका विचार करते हैं—बौद्ध ज्ञानके अविसंवादकत्वको क्या (१) प्रदर्शित अर्थकी प्राप्ति करा देनेसे, या (२) प्राप्तियोग्य अर्थके दिखा देनेसे, या (३) अविचलित (अबाधित) अर्थको विषय करनेसे प्रमाण कहते हैं? (१) यदि **प्रथम** कल्प (पक्ष) मानते हो, तो वह अयुक्त है, क्योंकि ऐसा माननेसे जलके बुद्बुदादि या नष्ट होनेवाले पदार्थसे जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसको अप्रमाणता आ जायगी, कारण कि, प्राप्तिके समय वह नष्ट हो जाता है, और बौद्धने तो **जो प्रदर्शित अर्थकी प्राप्ति करा देवे,** उसे प्रमाण माना है। (२) अगर **द्वितीय** कल्प मानते हो, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर प्राप्तिके अयोग्य देशमें स्थित ग्रह, नक्षत्र आदिको विषय करनेवाले ज्ञानको अप्रमाणताकी प्रसक्ति हो जायगी, क्योंकि ये चीजें ऐसी जगहमें ठहरी हुई हैं जहाँसे इन्हें हम प्राप्त नहीं कर सकते हैं। (३) अगर **तीसरा** कल्प मानते हो, तो उसमें भी यह प्रश्न होता है कि उस अविचलित-विषयताको तुम जानोगे कैसे? 'ज्ञानान्तरसे उसके विषयका निराकरण नहीं होता है, ज्ञानान्तरसे उसका विषय बाधा नहीं जाता है, इससे अविचलितविषयताका पता चल जायगा'—यदि ऐसा कहते हो, तो यही रोना तो हम भी रो रहे थे, सो वह क्या आपको कठोर मालूम पड़ता था? स्वपरप्रकाशी बाधारहित ज्ञानके सिवाय किसी दूसरी वस्तुके विषयका अनिराकरण–अबाधा हम ज्ञानान्तरसे नहीं देखते हैं। सो अविसंवादकत्वरूपसे उसी स्वपरप्रकाशी बाधारहित ज्ञानको ही आपने प्रमाण माना है। इसलिए इसमें हमें कोई विवाद नहीं है।

(३) नैयायिक आदिके 'अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्' की परीक्षा

'अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्,' अर्थात् '**अर्थकी उपलब्धि जिससे हो वह प्रमाण है,**' यह प्रमाणका लक्षण भी परीक्षामें ठीक नहीं उतरता है। ऐसा माननेसे शरीरादि को भी अर्थोपलब्धिका कारण होनेसे

प्रामाण्यका प्रसङ्ग हो जायगा। यदि कहोगे कि—साक्षात् जो अर्थके उपलम्भका कारण है वह प्रमाण है, देहादिक नहीं, क्योंकि वह तो परम्परासे कारण है—तो ऐसी वस्तु तो स्वपराविर्भावक और निर्बाधक ज्ञान ही हो सकता है जो साक्षात् अर्थकी प्राप्तिका कारण होता है, इसलिए वही प्रमाण है, सन्निकर्षादिक नहीं, क्योंकि सन्निकर्षके होनेपर भी विना ज्ञानके अर्थका ज्ञान नहीं होता। इसलिए **'स्वपराभासि बाधविवर्जितं ज्ञानं प्रमाणम्'** यही प्रमाणका लक्षण ठीक है।

५. प्रमाणकी संख्या और प्रत्यक्ष-परोक्षका निर्वचन

प्रमाणकी संख्या दो है—**प्रत्यक्ष** और **परोक्ष**। इनमेंसे सिद्धान्तमें प्रसिद्ध पारमार्थिक प्रत्यक्षकी अपेक्षासे 'अक्ष' शब्द जीवके पर्यायरूपसे प्रसिद्ध है, यहाँ प्रमाणशास्त्रमें तो व्यावहारिक प्रत्यक्षका प्रस्ताव होनेसे 'अक्ष' शब्दसे इन्द्रिय समझना चाहिये। इससे अक्षके प्रति जो प्राप्त है वह **प्रत्यक्ष** है। इसका यह अर्थ हुआ कि जो इन्द्रियको आश्रित करके अर्थ-साक्षात्कारी ज्ञान उत्पन्न होता है वह **प्रत्यक्ष** है। यह निर्वचन प्रत्यक्ष शब्दकी व्युत्पत्तिका निमित्त है, प्रवृत्तिका निमित्त नहीं। यह 'प्रत्यक्ष' शब्द इस प्रकार व्युत्पादित होता हुआ भी साक्षाद्ग्राह्यका ग्राहक जो ज्ञानविशेष उसका निर्देश करता है, क्योंकि वह उसीमें रूढ़ है। प्रत्यक्षज्ञान लोकमें उसे कहते हैं जिसमें साक्षात् सामने वस्तु झलक रही हो, जिसमें ज्ञेय वस्तु सामने ही मौजूद हो। दूसरा उदाहरण लो। जैसे 'गो' शब्द गमनक्रियामें व्युत्पादित है, फिर भी वह चल रहे या न चलनेवाले बैलमें प्रयुक्त होता है, क्योंकि उसीमें उसकी प्रसिद्धि है, गमनक्रियासे युक्त पुरुषादिकमें उसका प्रयोग नही होता, क्योंकि पुरुषादिकमें 'गो' शब्दकी प्रसिद्धि नहीं है। इस कारण, सर्वज्ञोंके ज्ञानोंमें जो स्वरूपका सम्वेदन होता है वह भी प्रत्यक्ष है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि उनमें भी ग्राह्य जो स्वरूप है, उसका साक्षात्करण होता है। इन्द्रियोंसे परे जो होता या रहता है वह **परोक्ष** है; इसका भाव यह हुआ कि इन्द्रिय-व्यापारसे रहित, अर्थात् इन्द्रियोंकी सक्रिय सहायताके विना, असाक्षात् अर्थका परिच्छेदक-ज्ञाता जो ज्ञान है वह **परोक्ष** है।

कारिकामें "प्रत्यक्षं च परोक्षं च" इस प्रकार जो दो 'च' शब्द पड़े हुए हैं, इनसे यह मालूम पड़ता है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तुल्यकक्षक–समान हैं, कोई किसीसे बड़ा या छोटा नहीं है। इस कथनसे 'प्रत्यक्ष सकल प्रमाणोंमें ज्येष्ठ है' इत्यादि जो दूसरे लोग कहते हैं उसका निराकरण हो जाता है, क्योंकि प्रामाण्यके प्रति दोनोंमें ही कोई विशेषता नहीं है, दोनों ही समान हैं। विशद प्रतिभास और अविशद प्रतिभासकृत यद्यपि दोनोंमें विशेषता है, फिर भी वह ज्येष्ठतामें कारण नहीं है। कोई कहेगा कि—परोक्ष प्रत्यक्षपूर्वक होता है, अतः वह कनिष्ठ है,—तो यह एकान्त नहीं है। जीवके साक्षात् (प्रत्यक्ष) करनेवाले प्रत्यक्षज्ञानके न होते हुए भी सब जगह जीवके चिह्न जो उच्छ्वास (साँसका अन्दर लेना) और निःश्वास (साँसका बाहर आना) हैं; उन्हीके सद्भाव और असद्भावसे जिन्दा या मरेकी पहिचान देखी जाती है। उच्छ्वास-निःश्वासादि जीवके लिङ्ग (चिह्न) किस तरह हैं, यह अन्यथानुपपन्नतासे निश्चित होता है। जीव जब जिन्दा रहता है तब उसमें उच्छ्वास-निःश्वास चलते रहते हैं और जब देहमें जीव नहीं रहता तब उच्छ्वास और निःश्वासका भी चलना बन्द हो जाता है इसीका

नाम अन्यथानुपपन्नता है; 'अन्यथा=विना जीवके देहमें रहे,' 'अनुपपन्नता=नहीं उत्पन्न होना,' यह इसका अर्थ है। इसी अन्यथानुपपन्नतासे उच्छ्वास-निःश्वास जीवके लिङ्ग सिद्ध होते हैं। इनके सद्भावसे जीवितकी पहिचान और इनके असद्भावसे मृतकी पहिचान लोकमें प्रसिद्ध है। अगर ऐसा नहीं माना जायगा, तो लोकव्यवहारके अभावका प्रसंग हो जायगा। कहीं-कहीं प्रत्यक्षसे जब संबंध जान लेते हैं तब उसके बलसे परोक्षकी प्रवृत्ति होती है; उदाहरणके तौरपर, प्रत्यक्षसे जब धूम और अग्निका अविनाभाव संबंध ग्रहण कर लेते हैं, तब धूम देखकर अग्निके अनुमान कर सकनेमें समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं। इस अपेक्षासे प्रत्यक्षको ज्येष्ठ मान लेने पर 'देखो हरिण दौड़ रहा है' इत्यादि शब्दके बलसे कृकाटिका (गर्दनके पिछले भाग) के मोटन (रगड़ने) से मृग विषयक, तथा स्मरण या संकेत-ग्रहणसे नयी-नयी चीजोंके देखनेके कुतूहल, प्रयोजन, या हेतुसे वन, देव या कुलादि विषयक **परोक्षपूर्वक** प्रत्यक्ष देखा जाता है, तो वहाँ परोक्षको भी ज्येष्ठता हो जायगी।

६. प्रमाणकी संख्याका विचार

कारिकामें "प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा" ऐसा 'द्विधा' शब्द है, उससे द्विधैव ऐसी निश्चित संख्या लेना। प्रमाणकी संख्या एक या दोसे ज्यादा नहीं है, यह इसका अर्थ हुआ। क्योंकि यह न्याय है कि जितने वाक्य होते हैं वे सब अवधारण (निश्चित मर्यादा) को लिये हुए होते हैं। अगर नियत मर्यादाको लिये हुए न होंगे तो ठीक अर्थके न बता सकनेके कारण उनका उच्चारण (प्रयोग) करना ही व्यर्थ हो जायगा, तथा विना अवधारणके विपरीत आकार (बात) का निराकरण नहीं हो सकेगा, विपरीत आकारके निराकरण न होनेसे वाक्यके प्रयोगकी आकाङ्क्षा नहीं रहेगी और तब उसकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकेगी। अतः अवधारण प्रत्येक वाक्यमें आवश्यक है। अब प्रमाण दो रूप ही होता है, ऐसी प्रमाणकी द्विविधता निश्चित हो जानेपर, दूसरे दार्शनिक जो प्रमाणकी संख्या इससे अधिक या कम मानते हैं, उसका तिरस्कार हो जाता है। उनकी प्रमाणकी संख्या युक्तिसे बाधित है। सो ही दिखाते हैं—

एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि विना परोक्षके प्रत्यक्षमें प्रामाण्य नहीं बन सकता है। चार्वाक किन्हीं प्रत्यक्षोंको, अर्थक्रियामें समर्थ अर्थके प्राप्त करा देनेसे, अव्यभिचारी (निर्दोष) देखता है तथा अन्य प्रत्यक्षोंको, अर्थक्रियामें समर्थ अर्थके प्राप्त न करा देनेसे, व्यभिचारी (सदोष)। अब कालान्तरमें पुनरपि वैसे ही प्रत्यक्षोंको प्रमाण और उनसे भिन्नको अप्रमाण कहता है। प्रत्यक्ष तो पूर्वापर-परामर्श (विचार) से शून्य है। सामने रखे हुए अर्थको ग्रहण करनेसे ही वह 'प्रत्यक्ष' कहाता है। ऐसी हालतमें वह पूर्वापरकालभावी प्रत्यक्षोंमें सादृश्यके निमित्तसे होनेवाले प्रामाण्यको नहीं पहिचान सकता। और न चार्वाक अपनी प्रतीतिमें आनेवाले प्रत्यक्षोंमें जो प्रामाण्य है उसे, विना परोक्षकी सहायताके, दूसरेको बतला सकता है। इसलिए यथादृष्ट प्रत्यक्षोंके साधर्म्यसे वर्तमान प्रत्यक्षोंके प्रामाण्यको बतानेवाले तथा उस प्रामाण्यको दूसरेको भी प्रतिपादन करनेवाले ऐसे परोक्षके अन्तर्गत **अनुमान** रूप प्रमाणान्तरको अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए। 'दूसरेको

बतलानेके लिए प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है दूसरा कोई नहीं', ऐसा कहनेवाला अपनी उन्मत्तताको बतलाता है, क्योंकि प्रत्यक्षसे तो दूसरेकी चित्तवृत्तिको नहीं जान सकते हैं। कहोगे कि उसकी बोलनेकी क्रिया और उसकी चेष्टा-विशेषसे हम यह पता लगा लेंगे कि उसकी चित्तवृत्ति कैसी है, यह हमारी बातको समझा है कि नहीं,—तो इस तरह परोक्षमें प्रामाण्य, आपके न माननेपर भी, जबर्दस्तीसे आ गया। और इसी न्यायसे स्वर्ग, अदृष्ट (पुण्य, पाप) और देवता आदिका प्रतिषेध भी प्रत्यक्षसे नहीं कर सकते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष तो पासकी ही चीज़को जानता है। और यह **चार्वाक**, बिना इन चीज़ोंका प्रतिषेध किये, कट्टर चार्वाकताको प्राप्त नहीं कर सकता, और उनके प्रतिषेधके लिए प्रमाणान्तर मानना नहीं चाहता है, इस विषम-स्थितिमें वह कैसे अपनी स्थिति बनाये रक्खेगा, यह जाननेके लिये हमें तो उत्कण्ठा और आश्चर्य होता है। एक दूसरी बात और भी है। ज़रा यह तो बताओ कि स्वयं प्रत्यक्षमें भी प्रमाणता कैसे आती है? यही कहोगे न, कि जिस पदार्थको प्रत्यक्ष जानता है उसका अन्वय-व्यतिरेक उसमें रहता है। जैसे-पदार्थ अपनी संपूर्ण सामग्री (साधन) सहित जब विद्यमान होता है, तो प्रत्यक्ष भी होता है, यही इसका **अन्वय** है। और पदार्थ जब नहीं होता, तो प्रमाताको उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता, चाहे वह अपनी आँखोंको कितनी ही फाड़कर देखे। यही इसका **व्यतिरेक** है। संक्षेपमें पदार्थ होगा तो प्रत्यक्ष होगा और पदार्थ न होगा तो प्रत्यक्ष भी नहीं होगा, यही गृह्यमाण पदार्थके साथ प्रत्यक्षका **अन्वय-व्यतिरेक** है। कहनेका मतलब हुआ कि गृह्यमाण पदार्थकी भावाभावतासे प्रत्यक्षमें प्रमाणेतरता है।—तो यह बात तो परोक्षमें भी समान ही है। वह भी बहिरर्थसे ही उदित होता है, उससे संबद्ध **लिङ्ग** (साधन), **शब्द**के द्वारा उसकी उत्पत्ति होती है। अगर ऐसा न हो (बाह्य अर्थसे संबद्ध लिङ्ग एवं शब्दके द्वारा उसका ज्ञान न होता हो), तो उसको परोक्षाभासताका प्रसंग आ जायगा। परोक्षाभासके मिथ्या होनेपर भी, इससे पारमार्थिक (वास्तविक) परोक्षके प्रामाण्यमें कोई क्षति नहीं आती है; नहीं तो आकाशमें दो चन्द्रमाओंके देखने रूप प्रत्यक्षके मिथ्या देखनेसे अन्य सब सत्य माने गये विशद प्रत्यक्ष भी मिथ्या हो जायँगे। इसलिए प्रमाणभूत परोक्ष कभी भी जाने हुए पदार्थकी सत्ताको छोड़कर नहीं हो सकता, अतः प्रत्यक्षकी तरह वह भी जबर्दस्ती, कोई न माने तब भी, प्रमाणकोटिमें आ जाता है, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ। तथा और भी जो दूसरे लोगोंने उक्त दो प्रमाणोंके अतिरिक्त प्रमाणकी संख्या भिन्न भिन्न बतायी है, उनमें भी जिन-जिनमें, विचार करनेपर, **उपमान** और **अर्थापत्ति**की तरह प्रमाणता पायी जाती है, उन-उनका अन्तर्भाव इन्हीं दो प्रत्यक्ष और परोक्षमें कर लेना चाहिए। और जिनमें विचार करनेपर, **मीमांसक**-परिकल्पित **अभाव**की तरह प्रमाणता नहीं पाई जाती है, वह प्रमाणकोटिसे बाहर है और उससे हमारा कोई भी प्रयोजन नहीं है।

७. उपमानके प्रामाण्यकी सिद्धि

प्रश्न हो सकता है कि आप (जैन या अन्य नैयायिक आदि) उपमान को क्यों प्रमाण मानते हैं? उपमानको प्रमाण माननेके ये कारण हैं। सबसे पहले यह देखना चाहिये कि उपमान

प्रमाण है क्या ? जिस व्यक्तिने गायको अच्छी तरह जान लिया है, 'जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है' इस वाक्यके सुननेसे जिसकी आत्मामें संस्कार बैठ गया है और जो जंगलमें घूम रहा है, ऐसे पुरुषको वहाँ गवयके स्पष्ट दीख जानेसे, उसका जो पहलेके उपमान–गो-ज्ञानसे अब उपमेय-गवय-ज्ञान होता है, वह **उपमान प्रमाण** है। इस उपमानका विषय 'यह गवय उस गायसे मिलता-जुलता है, या इन दोनोंमें सादृश्य (समानता) है' ऐसा **सादृश्यविशिष्ट पिण्ड**–अर्थात् पहले सादृश्यपर ध्यान गया फिर पुरोवर्ती पदार्थके शरीरपर—या **पिण्डविशिष्ट सादृश्य**—अर्थात् पहले पुरोवर्ती पदार्थके शरीरपर ध्यान गया, फिर उसके सादृश्यपर—है।

भावार्थ—उपमानमें सादृश्यपूर्वक या सादृश्यकी प्रधानतासे दो वस्तुओंके सम्बन्धका परिज्ञान होता है। उनमेंसे एक वस्तुको पहले जानते या देखते हैं, फिर दूसरीको बादमें। पहली वस्तु **उपमान** होती है और दूसरी **उपमेय**। जिसकी उपमा दी जाय, या जिसका सादृश्य बतलाया जाय वह '**उपमान**' और जिसको दी जाय, या जिसके साथ सादृश्य बतलाया जाय वह '**उपमेय**' होता है। जैसे 'गायकी तरह गवय (रोज) होता है,' इसमें गाय **उपमान** है और गवय **उपमेय** है। इन दोनोंके बीचकी चीज़ **सादृश्य** है; यह दोनोंमें समानरूपसे पाया जाता है। अब उपमान प्रमाणमें होता क्या है कि कहीं-कहीं और कभी-कभी तो पहले सादृश्यपर ध्यान जाकर पीछे उपमेयके ऊपर जाता है, तथा कहीं–कहीं और कभी-कभी पहले उपमान और उपमेय व्यक्तियोंपर ध्यान जाता है, तब उनके सादृश्यपर। पहलेमें 'सादृश्यविशिष्ट पिण्ड' विषयभूत है, दूसरेमें 'पिण्डविशिष्ट सादृश्य'। यही इन दो शब्दोंका फर्क है।

जैसा कि उपमान प्रमाणवादी कहते भी हैं कि—

"इसलिए उपमानमें जो देखा जाता है वह सादृश्यसे विशिष्ट प्रमेय है, या प्रमेयसे विशिष्ट सादृश्य है ॥ १ ॥"[1]

[मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ० ४४४]

उपमान प्रमाणकी सत्ता पहले और बादके प्रत्यक्षमें सामने स्थित गो और गवयके देखनेसे समझी जाती है। उसमें पूर्वापर-परामर्श नहीं रहता, जैसा कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाणमें रहता है। विशद निर्भासी (ज्ञान) होनेसे उसमें शब्दका उल्लेख भी नहीं रहता, बल्कि शब्दोल्लेखसे अधिक अव्यभिचरित और व्यवहार करानेवाले सादृश्यका निश्चय कराता है और साथमें स्वपरप्रकाशी होते हुए वह निर्बाध भी है। इन सब कारणोंसे वह प्रमाण है।

'उपमानका विषय सादृश्य है, और वह पूर्वापरपिण्ड (अर्थात् पहले देखी गयी गाय और बादमें देखे गये गवय) के अतिरिक्त और कहीं नहीं देखा जाता,'—ऐसा कोई कहे तो यह कोई

१–तस्माद्यद्दृश्यते तत्स्यात् सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ १ ॥ इति ।

उपालम्भ (अपराध) की बात तो नहीं हुई। क्योंकि पूर्वापरपिण्डगत सादृश्यका प्रत्यक्ष भी हो सकता है। यदि कहो—सादृश्य तो उपमानगोचर है, इसलिए वह प्रत्यक्षमें नहीं मालूम पड़ता,—तो उपमानका इसमें क्या अपराध है? 'उपमानका विषय ज्ञानान्तरमें नहीं मालूम पड़ता, इसलिए वह निर्गोचर (निर्विषय) है,' ऐसा तो नहीं कह सकते। अगर कहेंगे, तो 'उपमानमें भी प्रत्यक्षद्वारा जानने योग्य व्यक्ति नहीं मालूम पड़ता है,' अतः **प्रत्यक्ष** भी निर्गोचर हो जायगा। इसलिए जैसे स्वविषयमें प्रत्यक्ष प्रमाण है, वैसे ही उपमान भी स्वविषयमें प्रमाण है। जब दोनों ही प्रमाण अपना-अपना अस्तित्व रखते हैं और अपने-अपने विषयको विषय करनेकी दृष्टिसे उनमें कोई फ़र्क़ भी नहीं है, तब एकके प्रति पक्षपात करना ठीक नहीं है। यदि किसी ज्ञानका विषय दूसरे ज्ञानसे न जाना जानेसे उसे निर्विषय कहोगे, तो यह बात जैसे **उपमान** प्रमाणमें लागू करते हो वैसे ही **प्रत्यक्ष** प्रमाणमें भी लागू करनी पड़ेगी। उपमानका विषय 'सादृश्य' है और प्रत्यक्षका विषय 'पूर्वापरपिण्ड' है। 'सादृश्य' **सामान्य** वस्तु है, जबकि 'पूर्वापरपिण्ड' **विशेष** वस्तु है; 'सादृश्य' **अनेक**निष्ठ है, जबकि 'पूर्वापरपिण्ड' **एक** विशेषवस्तुमें निष्ठ है। जैसे 'सादृश्य' (उपमानका विषय) प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता, वैसे ही 'पूर्वापरपिण्ड' (प्रत्यक्षका विषय) उपमानका विषय नहीं हो सकता। जब दोनों ओरसे ऐसी बात है, तब केवल यह कहना कि 'उपमानका विषय–सादृश्य प्रत्यक्षसे न मालूम पड़नेसे **उपमान** निर्विषय है' उपमानके प्रति द्वेष और प्रत्यक्षके प्रति पक्षपात करना है, जो कि ठीक नहीं है।

८. प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, ऊहादिकके प्रामाण्यनिरूपणपूर्वक उनका परोक्षमें अन्तर्भाव

इस उपर्युक्त कथनसे परोक्षके अन्य भेद—**प्रत्यभिज्ञान, स्मृति** और **ऊहादिक** भी—जो कि अविसंवादक हैं, प्रमाण जानने चाहिये, क्योंकि ये भी अपने-अपने विषयको विषय करनेमें स्वपर प्रकाशी और निर्बाधक हैं, अतः प्रमाणका सामान्य लक्षण '**स्वपरप्रकाशितया निर्बाधकत्व**' इन सभीमें है। वही दिखाते हैं—पहले **प्रत्यभिज्ञान**को लेते हैं। अर्थका दर्शन आत्मामें संस्कार पैदा करता है, पीछे फिर वैसा ही देखा जानेसे यह संस्कार प्रबुद्ध (पुष्ट या जाग्रत) होता है, प्रबुद्ध संस्कार पूर्वमें अर्थको विषय करनेवाले मनुष्यको 'वही यह है, या वैसा ही यह है' ऐसे उल्लेखपूर्वक प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न कराता है। यह प्रत्यभिज्ञान ऊर्ध्व और तिर्यक् सामान्यका व्यवस्थापक है, क्योंकि जिस पुरुषने पहले अर्थका प्रत्यक्ष नहीं किया है, उसे प्रत्यभिज्ञान नहीं होता। तथा वही संस्कार पुनः वैसे अर्थके देखने या उसके अच्छी तरह उपयोग करने आदिसे प्रबुद्ध होकर अनुभूत विषयके न भूलने रूप **स्मरण**को उत्पन्न करता है, क्योंकि पूर्वमें अर्थको न देखनेवाले पुरुषके स्मरण नहीं हुआ करता। ऊह भी एक अलग प्रमाण है, ऐसा हम आगे बतावेंगे। उसका भी विषय प्रत्यक्ष और अनुमानसे नहीं जाना जा सकता है। यह प्रमाण **साध्य**, तथा साध्यके अभावमें न होनेवाले **साधन** (लिंग), इन दोनोंके सम्बन्धको ग्रहण करता है। **अर्थापत्ति प्रमाण**में भी. प्रमाणतामें उपलब्ध

योग होनेसे, प्रमाणता स्वीकार करनी पड़ती है। 'अग्नि आदिमें, विना दहनशक्ति आदि हुए, स्फोट आदि नहीं हो सकते हैं,' इस प्रकार स्फोटादिकको प्रत्यक्षसे जानने पर अग्नि आदिकसे भिन्न उसकी **दहन-शक्ति आदिक** परोक्ष वस्तुको हम **अर्थापत्तिसे** जानते हैं। यह अर्थापत्तिका विषय अव्यभिचरित—निर्बाध है और पूर्वदर्शनके विषयसे कुछ अधिक है, अर्थात् पूर्वमें तो हमने आँख या कानसे अग्नि या अग्निका स्फोटमात्र ही देखा या सुना था, किन्तु अब इसकी शक्तिका भी जो परोक्ष वस्तु है, परिज्ञान कर रहे हैं, तो यह पूर्वदर्शनके विषयसे कुछ अधिक हुआ।

इसी प्रकार, और भी जो प्रत्यक्षके विषयसे कुछ अधिकके सम्पादक, निराकाङ्क्षतापूर्वक व्यवहारके करनेवाले ज्ञान हैं, वे सब प्रमाण हैं, ऐसा समर्थन करना चाहिए, क्योंकि वे सब स्वपर-प्रकाशी एवं निर्बाध हैं, जैसे पूर्व और अपर सीढ़ीकी परंपराको देखने के उत्तर-कालमें होनेवाला सीढ़ीके पत्थरों या डण्डोंकी संख्याका ज्ञान स्वपरप्रकाशी एवं निर्बाध है तो वह प्रमाण है।

इन सबका **परोक्षमें** अन्तर्भाव होता है, क्योंकि ये प्रस्तुत अर्थका ज्ञान तब करते हैं जब उस प्रस्तुत अर्थके विना नहीं होनेवाला अर्थान्तर दीख जाता है, या किसी अन्य इन्द्रियसे मालूम पड़ जाता है। उदाहरणके तौरपर, **अनुमानज्ञान**—जो कि परोक्ष प्रमाण है—अग्निका ज्ञान तब करता है जबकि अग्निके विना नहीं होनेवाला धुआँ दीख जाता है। अर्थात् इन ज्ञानोंमें प्रस्तुत **अर्थ** और प्रस्तुत **ज्ञानके** बीचमें प्रस्तुत अर्थके विना न होनेवाला एक माध्यम (Medium) रहता है, जो कि प्रस्तुत अर्थके ज्ञान करनेमें साक्षात् नहीं, किन्तु व्यवहित कारण है। इस व्यवहित कारणताकी वजहसे ही इन्हें **परोक्षज्ञान** कहते हैं। ये व्यवहित कारण अनुमानमें **लिङ्ग** (साधन), उपमानमें **सादृश्य**, शाब्दमें **आप्तप्रणेतृत्व** (यथार्थवक्ताका वचन) और अर्थापत्तिमें **प्रत्यक्षादिगोचरीकृत पदार्थकी परोक्ष पदार्थके साथ अन्यथा-नुपपत्ति** हैं। कुछ भी थोड़ी विशेपता होनेसे ही यदि प्रमाणान्तरकी कल्पना करते जायँगे, तो प्रमाणकी संख्या ही नष्ट हो जायगी, क्योंकि थोड़ी-थोड़ी विशेपताके कारण तो अनन्त प्रमाण हो जायँगे। और इस विशेपताका कारण भी नाना प्रकारके आवरण-क्षयोपशमके होनेसे ज्ञानकी नाना प्रकारकी प्रवृत्ति है। कोई यहाँ प्रश्न कर सकता है कि—जब ऐसा है, अर्थात् जब थोड़ी-सी भी विशेपतासे प्रमाणान्तरकी कल्पना नहीं कर सकते हैं, तब आप आगे परोक्षके **अनुमान** और **शाब्द** ये जो **दो** भेद करोगे वह भी कैसे कर सकोगे? वहाँ भी तो आप्तप्रणीत-वचनोंसे उत्पन्न ज्ञानके आप्तप्रणीतवचनके विना न होनेसे, उसका अनुमानमें अन्तर्भाव कर लेना कुछ मुश्किल नहीं है। तब एक अनुमान ही अवशिष्ट रह जाता है, इसीको 'परोक्ष' शब्दसे यदि कहा जाय तो ठीक होगा, क्योंकि विद्वानोंका शब्दमें कुछ ज्यादा आदर भी नहीं होता।—ऐसा प्रश्न करना ठीक है, हम भी ऐसा मानते हैं कि यद्यपि किसी प्रक्रियासे शाब्दका अनुमानमें अन्तर्भाव हो सकता है, तथापि शाब्दमें दूसरे दर्शनकारोंको विवाद है। इसलिए उसको पूर्वपक्षादिके द्वारा अलग करके उसके प्रामाण्यका समर्थन करना चाहिये। जो अपृथग्भूत है उसका तो अलगसे स्पष्ट प्रामाण्य कह नहीं सकते हैं, अतः जो पृथग्भूत है उसीका अलगसे कथन करते हैं। इससे यह बात भी आ जाती है कि—और भी जो परोक्षके भेद हैं, उन

सबका अनुमानमें अन्तर्भाव होनेपर भी जिस-जिसमें दूसरोंको विवाद है उस-उसको परोक्षसे अलग करके अलग युक्तिसे उस-उसका प्रामाण्य जानना चाहिए। इस तरह दूसरे शास्त्रोंमें परोक्षसे अलग करके जो ऊहादिकका लक्षण आचार्योंने किया है वह युक्त ही है, ऐसा बिना कहे आ जाता है।

९. अभाव प्रमाणके प्रामाण्यका निषेध

कोई प्रश्न करता है कि जब ऊहादिक प्रमाण हैं, तब **मीमांसक**-परिकल्पित **अभाव**को क्यों नहीं आप प्रमाण मानते? इसका उत्तर **जैन** देता है कि अभावका कोई विषय ही नहीं है, इसलिए अप्रमाण है। जिसका कोई विषय ही नहीं होता वह प्रमाण नहीं हुआ करता। अभाव निर्विषय कैसे है, यह आगेकी पंक्तियोंमें थोड़ेसेमें दिखाते हैं।

अभाव प्रमाणमेंसे उसका प्रामाण्य चला जाय, इसकी चिन्ता खुद हमें नहीं है, किन्तु स्वयं **प्रत्यक्ष** ही इस (अभावके प्रामाण्यकी) परिकल्पनाका निरास करता है। 'यह कोरा भूतल ही है, घटादि वस्तु यहाँ नहीं है,' ऐसा वस्तुका ज्ञान, अन्वय–व्यतिरेकके द्वारा, **प्रत्यक्ष** करता है, और इससे अधिक जानने योग्य अर्थ कुछ है नहीं। **अभाव**में इतना ही तो ज्ञान होता है कि 'यह खाली पृथ्वी ही है और कोई घड़ा आदि वस्तु यहाँ नहीं है,' सो इतना तो **प्रत्यक्ष**से जान लेते हैं। अब **अभाव** के लिए क्या विषय रह जाता है, जिसे जानकर वह अपनी प्रमाणता चरितार्थ करे? इसलिए उसका कोई भी विषय न होनेसे उसे अप्रमाण मानना ही पड़ेगा। जब वह प्रमाण नहीं रहा, तब उसे प्रमाणके भेदोंमें कैसे गिन सकते हैं? **प्रत्यक्ष** जैसे सद्रूप वस्तुको ग्रहण करता है, वैसे ही असद्रूप वस्तुको भी ग्रहण करता है, यह हर कोई जानता है। उदाहरणके लिये, जो आँख खाली ज़मीनको देखती है वह यह भी जानती है कि इसपर इस समय **घड़ा आदि कोई वस्तु नहीं रक्खी हुई है।** 'ज़मीनका देखना' सद्रूप वस्तुका देखना हुआ और 'घड़ा आदि अन्य वस्तुका अभाव देखना' असद्रूप वस्तुका देखना हुआ। यहाँ अगर कदाचित् **मीमांसक** कहे—प्रत्यक्षकी इन्द्रियोंसे उत्पत्ति होती है और इन्द्रिय भावांशको ही ग्रहण करती है, अतः प्रत्यक्ष भी भावांशको ही ग्रहण करता है। 'घटादि नहीं है' यह नास्तिताका ज्ञान तो मनमें, बिना इन्द्रियोंकी क्रियाके, उत्पन्न होता है और वह भी तब जब कि, एक ओर तो, वस्तुका पूर्वमें ग्रहण हो चुका हो और, दूसरी ओर, उसी वस्तुका स्मरण होता हो। वैसा कहा भी है—

> " 'नहीं है' ऐसा ज्ञान इन्द्रियसे तो होता नहीं है, क्योंकि इन्द्रियका संयोग भावांशसे ही हो सकता है, वही (भावांश ही) उसके संयोगके योग्य है ॥ १ ॥ "*
>
> (श्लो. वा., पृ० ४७९)

---

* न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥ १ ॥

" वस्तुका सद्भाव ग्रहण करके, प्रतियोगी (जिसका अभाव वह **प्रतियोगी** कहलाता है, जैसे-घटका अभाव, तो घट यहाँ ' प्रतियोगी ' होगा। किसका ? घटाभावका।) का स्मरण करके, नास्तितज्ञान, विना इन्द्रियकी अपेक्षाके, मनके अन्दर होता है ॥ १ ॥ " +

(श्लो. वा. पृ० ४८२)

मीमांसकके उक्त कथनका उत्तर यह है। हम तुमसे पूँछते हैं कि भावांश (केवल भूतल) से अभावांश (घटादिकी नास्तिता) **भिन्न** है कि **अभिन्न** है ? यदि **अभिन्न** है, तो अभावांशका, अर्थात् घटादिकी नास्तिताका, अग्रहण कैसे होगा ? क्योंकि भावांशसे अभावांश अलग नहीं है, जैसे भावांशसे भावांशका स्वरूप अलग नहीं है। भावांशको जानते वक्त ज्ञानी भावांशके स्वरूपको भी जानता है, क्योंकि वह उससे भिन्न नहीं है; ऐसे ही भावांशसे अभावांश भिन्न न होनेसे प्रत्यक्षसे ही भूतलके सद्भाव और घटादिके अभाव, दोनोंका ज्ञान हो जायगा। यदि भावांशसे अभावांश **भिन्न** है, तो आपने पहले कहा ही है, कि अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति होनेके लिये पूर्वमें कभी वस्तुका ग्रहण अवश्य हुआ होना चाहिये, तो जिस समय आद्य दर्शन (प्रत्यक्ष) से आपने **घटादिका ग्रहण** किया था उसी समय भूतल आपको **घटादिके अभावसे रहित** मालूम पड़ा था। क्योंकि, 'घटादिके ग्रहण करने 'का अर्थ होता है ' घटादिके अभावका ग्रहण नहीं करना।' ऐसी स्थितिमें, अर्थात्, पूर्वमें आद्यदर्शनसे घटादिकका ग्रहण हो जानेपर पुनः पीछेसे होनेवाला **अभाव प्रमाण** उन घटादिके ग्रहणको हटा नहीं सकता है, क्योंकि आपके मतसे तो भावांश (घटादिकी विद्यमानता) और अभावांश (घटादिकी अविद्यमानता) दोनों ही पृथक्-पृथक् हैं। जब एक बार **प्रत्यक्ष**से घटादिकी विद्यमानता, अर्थात् भावांशका ग्रहण हो चुका, तब अभावांश, अर्थात् घटादिकी अविद्यमानताका '**अभाव**' प्रमाणसे कैसे ग्रहण होगा ? क्योंकि भावांश और अभावांश आपके मतसे दोनों ही सर्वथा भिन्न, अतएव विरुद्ध हैं। एक ही ज्ञानपरम्परामें, परस्परविरुद्ध दो पदार्थों या अंशोंको दो विरोधी दिशाओंमें ग्रहण करनेवाले दो ज्ञान कैसे हो सकते हैं ? जिस समय '**प्रत्यक्ष**' भावांशको ग्रहण कर पदार्थकी सत्ताको ग्रहण करता है उसी समय '**अभाव**' अभावांशको ग्रहण कर उसी पदार्थकी असत्ताको ग्रहण करता है, क्यों कि अभाव प्रमाणसे पदार्थके अभावको जाननेके लिए उसका पूर्वमें कभी प्रत्यक्षसे सद्भाव अवश्य जाना हुआ होना चाहिये, यह एक अभावकी मुख्य शर्त है। अब पूर्वमें **प्रत्यक्ष**से पदार्थका सद्भाव ग्रहण किया और बादमें **अभाव** प्रमाणसे उसी पदार्थका अभाव ग्रहण किया। इन दोनोंमें यदि 'प्रत्यक्ष'को सत्य समझते हो, तो फिर 'अभाव' प्रमाणकी उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, और यदि 'अभाव' प्रमाणको सत्य समझते हो, तो 'पूर्वका **प्रत्यक्ष** भ्रान्त था' ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि उसने खाली भूतलको घटादिसहित (भावांश सहित) ग्रहण किया था। इसलिए, भावांश और अभावांश इन दोनोंको सर्वथा विरुद्ध और भिन्न माननेमें या तो **प्रत्यक्ष**को भ्रान्त मानना पड़ेगा या बादमें **अभाव**की अप्रवृत्ति माननी पड़ेगी, दोनोंमेंसे कोई एक बात माननेसे ही दोनों

+ गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनं।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥ १ ॥

भिन्न एवं विरुद्ध सिद्ध हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। दूसरी बात यह है कि, अन्य किसी प्रमाणसे न जाने जानेके कारण अर्थका अभाव **अभाव-प्रमाण**से सिद्ध किया जाता है, ऐसा आपका अभिप्राय है :—

क्योंकि

"जिस वस्तुरूपमें प्रमाणपञ्चक[1]—प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द, उपमान और अर्थापत्ति—की प्रवृत्ति नहीं होती है, उसमें वस्तुसत्ताके जानने लिये **अभाव**को प्रमाणता होती है ॥१॥"

(श्लो० वा०, पृ० ४७३)

ऐसा कहा है। यह अयुक्त है। अमुक वस्तुरूपमें 'कोई प्रमाण' लागू नहीं होता है, यह हम कैसे जानेंगे? कहोगे कि—हम ऐसे जानेंगे कि 'उस वस्तुका ग्राहक कोई प्रमाण है', इसको ग्रहण करनेवाला कोई दूसरा प्रमाण नहीं है,—तो फिर 'उक्त बातको ग्रहण करनेवाला कोई दूसरा प्रमाण नहीं है' यह बात तो तब समझी जाय जबकि 'उस प्रमाणान्तर का ग्राहक कोई दूसरा प्रमाण नहीं है' ऐसा समझमें आवे, सो इस तरह **अनवस्था** हो जायगी। पहली बारके 'प्रमाणके अभाव' को दूसरी बारके 'प्रमाणान्तरके अभाव' से जानेंगे और दूसरी बारके 'प्रमाणान्तरके अभाव' को तीसरी बारके तद्ग्राहक 'प्रमाणान्तरके अभाव' से; इस तरह कहीं अन्त न आनेसे **अनवस्था दोष** निश्चित है। इससे बचनेके लिये अगर ऐसा मानो—कि 'अर्थके अभावसे प्रमाणका और प्रमाणके अभावसे अर्थका अभाव होता है'—तो दुर्घट **इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) दोष** आ जायगा। जबतक अर्थाभाव नहीं जाना जायगा तबतक प्रमाणाभाव सिद्ध नहीं होगा, और जबतक प्रमाणाभाव नहीं जाना जायगा तबतक अर्थाभाव सिद्ध नहीं होगा, इस तरह अर्थाभाव प्रमाणाभावके ऊपर और प्रमाणभाव अर्थाभावके ऊपर आश्रित रहेगा। 'इन्द्रिय जिसतरह दूसरेसे न जानी जाकरके भी अर्थको ग्रहण करती है, वैसे ही प्रमाणभाव, न जाना हुआ हो करके भी, अर्थाभावका ज्ञापन करेगा'—अगर ऐसा कहो, तो यह अयुक्त है, क्योंकि 'प्रमाणाभाव' तुच्छ (सर्वथा अभावरूप) है, इसलिए उसमें कोई भी शक्ति नहीं रहती है, लेकिन इन्द्रिय तुच्छ (सर्वथा अभावरूप) नहीं है, इसलिए ज्ञान उत्पन्न कर सकती है। अतः **प्रत्यक्ष ही भूतलादि-प्रतिनियत वस्तुको ग्रहण कर सकता है**, लेकिन इस शर्तके साथ कि उस प्रत्यक्षमें भूतलादि-प्रतिनियत वस्तुसे भिन्न अभाव की जानेवाली घटादिरूप वस्त्वन्तरका ग्रहण न हो; अन्यथा, वह (प्रत्यक्ष) **प्रतिनियतवस्तुको ग्रहण नहीं कर सकता** है, क्योंकि बिना विजातीय (घटादि) वस्तुके दूर किये अमुक पदार्थ (भूतल) को ही प्रतिनियतपना सिद्ध नहीं हो सकता है, और बिना प्रतिनियतत्वकी सिद्धिके सभी पदार्थोंके साहित्य (समूह) के ग्रहणका प्रसंग हो जायगा। इसलिए **प्रत्यक्ष**से जितना जाना जा सकता है उससे अधिक जानने योग्यका अभाव होनेसे, अभाव प्रमाणका फिर कोई विषय नहीं रह जानेसे, **मीमांसकों**ने जिस 'अभाव' नामके प्रमाणकी परि-कल्पनाकी थी वह अप्रमाण सिद्ध हो जाता है, ऐसा सिद्धान्त स्थिर हुआ।

---

१ प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभाव प्रमाणता ॥ १ ॥

१०. प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे ही प्रमाणद्वैविध्यकी सिद्धि, अन्यरूपसे नहीं

कारिकामें 'द्विधा' शब्दके होनेपर भी 'प्रत्यक्षं च परोक्षं च' ऐसा जो नियत द्वैविध्य दिखलाया है, इसका अर्थ है कि प्रमाणके दो प्रकारसे भेद करनेपर वे **प्रत्यक्ष** और **परोक्ष**ही हो सकते हैं, सौगत-परिकल्पित प्रत्यक्ष और अनुमान नहीं। सौगत-परिकल्पित प्रत्यक्ष और अनुमानका प्रमाणद्वैविध्य, उन्हींके मन्तव्यानुसार, बनता नहीं है। उनका मन्तव्य यह है—'प्रत्यक्षसे अतिरिक्त केवल अनुमान ही प्रमाण हो सकता है, शब्द-ऊहादिक नहीं,' क्योंकि अनुमानमें तादात्म्य-तदुत्पत्तिरूप सम्बन्ध रहता है जबकि शब्द-ऊहादिकमें यह सम्बन्ध नहीं रहता। अनुमानमें भी यह सम्बन्ध **कार्य**, **स्वभाव** और **अनुपलब्धि** ये जो तीन अनुमानके लिङ्ग हैं और जिनसे अनुमानकी उत्पत्ति होती है, उनके द्वारा आता है।'—और यह अयुक्त है, क्योंकि 'प्रत्यक्ष और अनुमानसे अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है' ऐसा जाननेका कोई उपाय नहीं है। प्रत्यक्षसे तो प्रमाणान्तरका अभाव जान नहीं सकते हैं, क्योंकि वह तो स्वलक्षण (अर्थ) को ही विषय करता है, अतः अभाव (प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त प्रमाणान्तराभाव) को वह ग्रहण नहीं कर सकता। और न स्वभावानुमान और कार्यानुमानसे ही प्रमाणान्तरका अभाव जान सकते हैं; क्यों कि वे तो वस्तुके साधक हैं, **उसके अभावके** साधक नहीं। और न अनुपलब्धिसे ही प्रमाणान्तरका अभाव ग्रहण हो सकता है, क्योंकि अनुपलब्धि किसी क्षेत्रविशेषमें ही भले अभाव सिद्ध कर सकती हो, वह सर्वत्र, अर्थात् बिलकुल, अभाव सिद्ध नहीं कर सकती।

बौद्धोंके यहाँ मूलभेदकी अपेक्षासे लिङ्ग (हेतु) को चार प्रकारका कहा गया है,—**१ विरुद्धोपलब्धि, २ विरुद्धकार्योपलब्धि, ३ कारणानुपलब्धि** और **४ स्वभावानुपलब्धि**।

१. विरुद्धोपलब्धिसे प्रमाणान्तरका अत्यन्ताभाव नहीं होता है। उसमें दृश्यरूप विरुद्धके विधानसे इतरका अभाव सिद्ध होता है। जिस देशमें दृश्यरूप विरुद्धका विधान है वहीं प्रतियोगी (जिसका अभाव किया जाता है वह) का अभाव है, उससे बाहर उसके अभावका नियम नहीं है। उदाहरणके लिए—'यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि यहाँ अग्नि है,' यह विरुद्धोपलब्धिका दृष्टान्त है। यहाँ दृश्यरूप विरुद्ध क्या है ? अग्नि। अग्नि जिस देशमें है वहाँ उसका विरोधी शीतस्पर्श नहीं रहता है, **अग्नि जहाँ नहीं है वहाँ तो शीतस्पर्श रह सकता है**। इस तरह, विरुद्धोपलब्धिसे शीतस्पर्शका अत्यन्त (बिलकुल) अभाव नहीं हुआ।

२. विरुद्धोपलब्धिके खण्डनसे **विरुद्धकार्योपलब्धिका** भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि वह भी प्रतिषेध्यके विरोधी [कार्य] के संनिधापन (संस्थापन) पूर्वक अभावका साधक होता है, सर्वथा नहीं। उदाहरणके लिए—'यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि यहाँ धूम है,' यह विरुद्धकार्योपलब्धिका दृष्टान्त है। यहाँ प्रतिषेध्य है शीतस्पर्श, उसका विरोधी है अग्नि, उसका कार्य है धुँआ, उसकी यहाँ उपस्थिति है। **जहाँ या जिस कालमें धुँआ नहीं है वहाँ उसका कारण अग्नि यदि नहीं है**,

तो उसके न होनेसे शीतस्पर्शका सर्वथा अवश्यम्भावी अभाव नहीं है। इस तरह विरुद्धकार्योपलब्धिसे भी शीतस्पर्शका बिलकुल (नितान्त) अभाव नहीं हुआ।

३. **कारणानुपलब्धि** भी जिस देशमें कारणकी अनुपलब्धि है, उसी देशमें आशंकित कार्यके अभावको सिद्ध करती है, सब जगह नहीं, क्योंकि सब जगह तो कारणकी अनुपलब्धि सिद्ध नहीं है। उदाहरणके लिए—'यहाँ धूम नहीं है। क्योंकि **अग्निका अभाव** है,' यह कारणानुपलब्धिका दृष्टान्त है। यहाँ अग्निका अभाव जिस प्रदेशमें है उसीमें उसके आशंकित कार्य धूमका अभाव कारणानुपलब्धिसे है; सब जगह उससे उसका अभाव नहीं किया जा सकता। इसलिए यह भी सर्वथा अभाव सिद्ध नहीं कर सकती है।

४. चौथी अनुपलब्धि है **स्वभावानुपलब्धि**। इसीका दूसरा नाम है '**दृश्यानुपलब्धि**'। यह भी जिस ज्ञानसे पदार्थका उपलम्भ (साक्षात्कार) होता है उसी ज्ञानसे संसर्ग रखती है, अर्थात् जिस पदार्थका जहाँपर प्रत्यक्ष हो सकता है उसका वहीं पर प्रत्यक्षसे ही उसके प्रतिद्वन्द्वी अभावको बतलाती है। उसका उदाहरण यह है—'यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि **अगर होता तो अवश्य दीखता, पर नहीं दीखता है।**' यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञानसे वस्तुका साक्षात्कार हो सकता है, क्योंकि वस्तु दिखने योग्य है; धूम ऐसी चीज़ है कि अगर वह हो तो अवश्य दीखेगा, बिना दिखे वह रह नहीं सकता, लेकिन नहीं दीखता है, अतः इसका अर्थ हुआ कि वह नहीं है। इसकी **उपलब्धि** (प्रत्यक्षपना, दिखाई देना) भी उसी एक प्रत्यक्षसे होती है और **अनुपलब्धि** (अप्रत्यक्षपना, दिखाई न देना) भी उसी प्रत्यक्षसे होती है। दूसरे शब्दोंमें, उसका दिखाई देना भी प्रत्यक्षके ऊपर ही निर्भर है और उसका न दिखाई देना भी उसीके ऊपर निर्भर है। जो वस्तु जहाँ दिख सकती है उसके वहाँ दिखाई न देनेसे उसकी वह **स्वभावानुपलब्धि** कही जाती है। इसीकी व्याख्या 'दीखने योग्य अवस्थामें होनेपर भी न दिखाई देनेकी हालतमें होना (उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य अनुपलब्धेः),' या 'जिस ज्ञानसे पदार्थका उपलम्भ होता है उसी ज्ञानसे संसर्ग रखनेवाली (एकज्ञानसंसर्गिपदार्थोपलम्भरूपा)' है।

अतः प्रमाणान्तरका भी निषेध कहीं ही होगा, सब जगह नहीं। इसलिए प्रमाणान्तरका बाधक कोई नहीं है।

दूसरी बात जो इस विषयमें विचारणीय है वह यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमानमें भी जो प्रामाण्य है, वह कहाँसे आया? प्रत्यक्षसे वह आया है, ऐसा तो कह नहीं सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होनेसे—कैसा भी विचार उसमें न होनेसे—सत् (विद्यमान) होता हुआ भी असत् (न होने) के समान है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके पीछे एक **विकल्प** (विचार) होता है, वह तो स्वलक्षणको विषय नहीं करता है, इसलिए कैसे वह बिना उसे विषय किये उसके स्वरूपको जानेगा? और यह अत्यन्त मूर्खताका परिचायक होगा यदि आप अप्रमाणभूत भी विकल्पसे प्रत्यक्ष और अनुमानके प्रामाण्यका निर्णय करेंगे। अगर अनुमानसे इन दोनोंके प्रामाण्यका निर्णय करेंगे, तो वह बात भी नहीं बनती है; क्योंकि (१) अनुमान भी स्वलक्षणसे बाहिर-ही-बाहिर रहता है;

कहोगे कि–अनुमानसे यदि प्रामाण्यका निर्णय न होता हो, तो न सही, किन्तु उससे एक काम तो हो जायगा कि वह अप्रामाण्यको दूर कर देगा और यही आवश्यक है,—तो ऐसा समझना भी गलत है, क्योंकि यह नियम है कि किसीका व्यवच्छेद (दूरीकरण) व्यवच्छिन्न— जिसका व्यवच्छेद होता है, उससे भिन्न नहीं हुआ करता। यहाँ आप अप्रामाण्यका व्यवच्छेद प्रत्यक्षानुमानसे करना चाहते हैं, तो 'अप्रामाण्यका व्यवच्छेद' व्यवच्छिन्न जो 'अप्रामाण्य,' उससे अलग नहीं हो सकता; यदि अलग हो जायगा, तो जो बात—प्रत्यक्षानुमानसे अप्रामाण्यका व्यवच्छेद—आप अनुमानसे करना चाहते हैं वह तो अब अपने-आप ही सिद्ध है, तब अनुमानका कोई विषय (कार्य) नहीं रह जायगा, न तो उसका विषय 'प्रामाण्यका निर्णय' ही हो सकता है, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया है, और न 'अप्रामाण्यका व्यवच्छेद' ही, जैसा कि अभी सिद्ध कर रहे हैं। इस तरह, अनुमानके निर्विषय होनेसे वह अन्धकारमें नाचनेके समान हो जाता है। कोई अन्धकारमें नाचता हो, तो उसका यह नाचना अच्छा है या बुरा, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उसको कोई देख नहीं रहा है। इसी तरह जब अनुमानका कोई विषय ही नहीं रहा, तब उसका विषय अप्रामाण्यका दूर करना है, यह कैसे कहा जा सकता है? (२) दूसरे, हम पूँछते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमानके प्रामाण्यका निर्णायक अनुमान **प्रमाण** है कि **अप्रमाण**? **अप्रमाण** तो उसे मान नहीं सकते हैं, क्योंकि अप्रमाण अनुमानसे प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता। और न उसे **प्रमाण** ही कह सकते हैं, क्योंकि उसके प्रामाण्यका साधक और कोई प्रमाण, जिसे आप मानते हो, है नहीं। **प्रत्यक्षसे** तो प्रत्यक्षानुमानके प्रामाण्यके निर्णायक अनुमानके प्रामाण्यकी सिद्धि हो नहीं सकती है, क्यों वह (**प्रत्यक्ष**) विकल्प–विचारसे शून्य है, अतः अकिञ्चित्कर है, ऐसा पहले कहा ही है। **अनुमानसे** उसके प्रामाण्यका साधन करोगे, तो पहलेके दोनों विकल्प —'प्रत्यक्षानुमानके प्रामाण्यके निर्णायक अनुमानके प्रामाण्यका निर्णायक अनुमान **प्रमाण** है कि **अप्रमाण**?—वैसे-के-वैसे ही खड़े हुए हैं। इस तरह, उस अनुमानके भी प्रामाण्य सिद्ध करनेमें आगेके अनुमानकी कल्पना करते जानेसे **अनवस्था** हो जायगी। (३) तीसरी बात यह है कि जिस व्यक्तिने साध्यसाधनका सम्बन्ध, यानी व्याप्ति, ग्रहण कर ली है वही अनुमान कर सकता है। साध्य–साधनका सम्बन्ध त्रिकालगोचर है, किसी एक कालका नहीं है। **प्रत्यक्ष** उस सम्बन्धको जान नहीं सकता है, पूर्वापरक्षणोंसे त्रुटित (अलग) जो वर्तमान क्षण, उसके उत्तरकालमें होनेवाला **विकल्प** उस व्यक्तिको ग्रहण करेगा, ऐसा जो हम स्वीकार करते हैं वह केवल व्यावहारिक अभिप्रायसे स्वीकार करते हैं, वास्तवमें नहीं। कहोगे कि–**अनुमानसे** ग्रहण कर लेंगे,—तो अनुमान भी सम्बन्ध (व्याप्ति) पूर्वक होता है, इसलिए उस व्याप्तिके ग्रहणमें भी यही सब बात दुहराई जायगी, इसतरह **अनवस्था** हो जायगी। इसलिए जो अनुमान मानना चाहता है उसको, और कोई उपाय न होनेसे, उस साध्य–साधनके सम्बन्धके ग्रहण करनेमें प्रवीण, अव्यभिचारी '**वितर्क**' नामका प्रमाण और मानना चाहिये। उसके माननेसे प्रस्तुत द्वैविध्यका विघटन हो जाता है। इसी तरह और भी जो अविसंवादी ज्ञान हैं, वे सब प्रमाण हैं। इसलिए प्रत्यक्ष, अनुमान ही प्रमाण हैं और कोई नहीं, ऐसा शुष्क (थोथा) अभिमान करनेसे कोई फायदा नहीं है। और यदि ऐसा मानो कि जो साध्यरूप अर्थके बिना न होनेवाले

हेतुसे होता है वह अनुमान है, तो प्रत्यक्ष और अनुमान, इस तरहका द्वैविध्य भी घट सकता है, क्योंकि फिर प्रत्यक्षव्यतिरिक्त जितने ज्ञान हैं वे सब अनुमानमें अन्तर्भूत हो जायँगे और उनके अन्तर्भाव का आधार यह होगा कि साध्यरूप अर्थके विना न होनेवाला जो अर्थान्तर है, उसके विना परोक्ष अर्थके विषयकी प्रतीति नहीं होगी। इस एक आधारके कारण सभी परोक्ष ज्ञान एक अनुमानमें ही अन्तर्भूत हो जायँगे।

'मेयविनिश्चयात्' ऐसा कारिकारूप सूत्रमें कहा है। वहाँ भी 'द्विधा' का काकाक्षिगोलकन्यायसे सम्बन्ध लगा लेना चाहिए। कौए की आँख तो दो होती हैं, लेकिन पुतली एकही होती है। जब बाईं आँखसे देखता है तो पुतली बाईं आँखमें जाती है, और जब दाईं आँखसे देखता है तो वह दाईं आँखमें आ जाती है। इस तरह एक ही पुतलीका उपयोग दोनों आँखोंमें हो जाता है। वैसे ही यहाँ भी 'द्विधा' शब्दको एकबार—जब प्रमाणके दो भेद करना हो तब—'प्रत्यक्षं च परोक्षं च' इसके साथ लगाना, और दूसरी बार, जब प्रमेयके दो भेद करना हो तब, 'मेयविनिश्चयात्' के साथ सम्बद्ध करना। तब यह अर्थ निकलता है :—

दोही प्रकारसे मेय, अर्थात् ग्राह्य अर्थ, का निश्चय, अर्थात् स्वरूप निर्णय, होता है। इसलिए दोही प्रमाण हैं, वे न कमती हैं, न ज्यादा हैं। इसका अभिप्राय यह समझना :—स्वसंवेदनमें तो निखिल ज्ञान एकरूप (ज्ञानरूप) से ही अपनेको जानते हैं, इसलिए इस दृष्टिसे उनमें कोई भेद नहीं, लेकिन बहिरर्थकी अपेक्षासे तो कोई एक आत्माके अर्थग्रहणका परिणाम (भाव, पर्याय) चक्षुरादि सामग्री (कारण-कलाप) से उत्पन्न होनेसे सामान्य आकारको साक्षात्कार करता हुआ प्रकाशमें आता है और वह सामान्य आकार वस्तुके समस्त अवयवोंमें रहता है, कालान्तरमें भी नहीं छूटता है, अर्थात् हमेशा बना रहता है। उस सामान्याकारमें क्षण-क्षणमें बदलनेवाली विवर्त (पर्याय) पर ध्यान नहीं जाता है, परमाणुकी गोलाईपर भी उसमें ध्यान नहीं जाता है: वह (सामान्याकार) हमेशा सन्निहित है, अर्थात् वस्तुसे अलग नहीं किया जा सकता है, उसका प्रकाश विशद होता है। आत्माके अर्थ-ग्रहणके ऐसे परिणाममें प्रत्यक्षका व्यवहार होता है। और जो आत्माके अर्थग्रहणका परिणाम लिङ्ग, शब्द आदिके द्वारा नियत-अनियत सामान्याकारको देखता हुआ, परिस्फुटतासे रहित प्रकाशमें आता है, वह **परोक्ष** कहा जाता है। इन दो प्रकारोंको छोड़कर अन्य किसी तीसरे प्रकारसे ज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं देखते हैं, और जब नहीं देखते हैं तो प्रमाणान्तरकी परिकल्पना भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि प्रमाणकी प्रवृत्ति प्रमेयके अधीन होती है। और इन दोनोंमेंसे किसी एकका लोप भी हम उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देख सकते हैं, क्योंकि जैसे दोसे ज्यादा प्रमाणकी परिकल्पना नहीं कर सकते हैं, वैसे ही दोसे कमती की भी परिकल्पना नहीं कर सकते। इन दो प्रमाणोंकी संख्याको न बढ़ा सकते हैं, न घटा सकते हैं; क्योंकि बढ़ानेसे घटानेमें या घटानेसे बढ़ानेमें कोई विशेषता तो है नहीं, दोनों ही में दोष आता है। इसलिए यही **प्रत्यक्ष-परोक्षरूप** द्वैविध्य स्वीकार करना चाहिए, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ ॥ १ ॥

कारिका २. प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥ २ ॥

प्रमाणके लक्षण कहनेका प्रयोजन

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि—'ये दोनों प्रकारके प्रमाण अनादिकालसे चले आ रहे हैं, सब जनोंको प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा प्रचलित जलपान, शीतत्राण आदि व्यवहार भी अनादिरूढ़ हैं, तब इनके लक्षण कहनेसे आपका क्या प्रयोजन है ? यह समझमें नहीं आता। '

इस शंकाका बीज यह है कि बहुत कालसे सुनी चली आ रही बात पर कोई ध्यान नहीं देता; कोई नयी बात हो तो तुरन्त सब लोग ध्यान देते हैं। इसलिए प्रत्येक वक्ताको—यदि वह सोचकर बोलने वाला हो तो और भी विशेषकर–बोलते समय यह सोचना चाहिये कि—'मेरे वचनसे श्रोताके ऊपर कुछ प्रभाव पड़ेगा कि नहीं ! अगर वह ऐसा नहीं सोचता है, तो उसकी सोचकर बोलने या विचार कर करनेकी आदतमें क्षति आती है। विमृश्यभाषी (सोचकर बोलनेवाला) व्यक्ति तभी बोलता है जब वह यह देख लेता है कि मेरे बोलनेसे श्रोता या श्रोताओंके ऊपर कुछ प्रभाव पड़ेगा, वे कुछ सोचने या करनेके लिये उद्युक्त होंगे, नहीं तो नहीं। लोकप्रवृत्ति ऐसी है, पर यह 'प्रमाणलक्षण'का वाक्य तो सकल जनोंको अनादिरूढ़ अर्थका ही बतानेवाला है, अतः इसका श्रोताओंके ऊपर कुछ भी प्रभाव पड़ेगा, इसकी संभावना नहीं है।

कुछ दूसरे प्रकारके लोग प्रमाणके लक्षण कहनेका समर्थन यों भी नहीं कर सकते हैं कि उनकी दृष्टिमें प्रमाणके लक्षण कहनेका कोई उपाय नहीं है। ऐसे लोगोंकी तर्क-पद्धति निम्नप्रकार है:-

वे कहते हैं कि—यह जो प्रमाणका लक्षण कहा गया है, वह **स्वरूपसे निश्चित** है, या **अनिश्चित** है ? (१) **स्वरूपसे अनिश्चित** तो प्रमाणका लक्षण आप कह नहीं सकते हैं, क्योंकि, उन्मत्तक (पागल) के शब्दके समान, 'अनिश्चित' किसीका लक्षण नहीं हुआ करता। लक्षण वही हुआ करता है जो निश्चित है। इस सिद्धान्तके अनुसार अगर 'प्रमाणका लक्षण' स्वरूपसे अनिश्चित है, तो उसे 'लक्षण' नहीं कह सकते हैं। (२) अगर प्रमाणका लक्षण **स्वरूपसे निश्चित** हैं, तो वह [अ] **अप्रमाणसे** निश्चित है कि [ब] **प्रमाणसे** ? [अ] अप्रमाणसे तो उसका निश्चय हो नहीं सकता है, क्योंकि अप्रमाण किसीका निश्चायक नहीं हुआ करता। यदि 'अप्रमाण भी निश्चायक होता है,' ऐसा कहो, तो प्रमाणका विचार (पर्येषण) या उसकी खोज ही व्यर्थ हो जायगी, क्योंकि उस हालतमें, अप्रमाणसे भी निश्चायकत्व माननेसे, उसकी (प्रमाणकी) कोई जरूरत ही नहीं रहेगी। [ब] यदि प्रमाणसे उसका निश्चय मानोगे, तो वह प्रमाण (१) **अपने लक्षणसे रहित** है कि (२) **सहित** है ? (१) यदि अपने लक्षणसे रहित प्रमाण प्रमाणके लक्षणके स्वरूपका निश्चायक है, तो सब प्रमाणोंका लक्षण कहना व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि विना लक्षणके भी प्रमाणसे अर्थके निश्चयकी

सिद्धि हो जायगी, जैसे आपके द्वारा अभिप्रेत इस लक्षण-निश्चायक प्रमाणसे—जो कि प्रमाणके लक्षणसे रहित है—सिद्धि हो जाती है। (२) अगर यह प्रमाण अपने लक्षणसे सहित है, तो उसमें भी ये दोनों विकल्प—कि यह प्रमाणका लक्षण (१) स्वरूपसे **निश्चित** है या (२) **अनिश्चित** ?—बिना किसीके हटाये अपने-आप आ जाते हैं। अनिश्चित लक्षण तो लक्ष्यको लक्षित कर नहीं सकता है। और निश्चय भी **प्रमाणसे** होगा कि **अप्रमाणसे** ? अप्रमाणसे निश्चय नहीं होता है। अतएव 'प्रमाणसे होता है,' ऐसा कहोगे—तो वह भी **लक्षणरहित** है या **लक्षणसहित** है ? अगर यहाँ अलक्षण प्रमाणसे प्रमाणके लक्षणका निश्चय मानोगे, तो पूर्वके ही अलक्षण प्रमाणसे प्रमाणके लक्षणका निश्चय माननेमें क्या हानि होगई थी ? और अगर इस प्रमाणको सलक्षण मानोगे, तो यह लक्षण भी **निर्णीत** है या **अनिर्णीत** है; वही बात फिर घूम फिरकर आ जाती है। अतः प्रमाणका लक्षण किसी भी उपायसे नहीं किया जा सकता है, इसलिए प्रमाण अनादि कालसे चले आ रहे हैं, अभी ही नहीं बनाये गये हैं, ऐसा अङ्गीकार करना चाहिये।

कारिका ३. प्रसिद्धानां प्रमाणानां लक्षणोक्तौ प्रयोजनम्।
तद्व्यामोहनिवृत्तिः स्याद्व्यामूढमनसामिह ॥ ३ ॥

इन दोनों प्रकारके लोगोंकी शंका—कुचोधका मूल ग्रन्थकार और टीकाकार निरसन करते हैं। वे कहते हैं कि ऊपर की दोनों शङ्काओंमें कोई सार नहीं है। पहली शङ्काकी ओर ध्यान देनेसे पता चलता है कि यद्यपि प्रमाण प्रत्येक प्राणीको प्रसिद्ध हैं, उनको सभी जानते हैं, अगर न जानते होते तो तत्कृत निखिल व्यवहारका उच्छेद हो जाता, और उसका उच्छेद होनेपर **दृष्टहानि** (जो कुछ दीखता है उसका लोप) आदिकी आपत्ति आ जाती, तथापि कुछ लोग ऐसे हैं जिनका अन्तःकरण विशाल अज्ञानसे चिपटा हुआ है और इस कारण जो प्रमाणके स्वरूपका अनुभव तो करते हैं, परन्तु उसे ठीक-ठीक समझ नहीं पाते हैं। ऐसे लोगोंके प्रति हमारा चित्त कृपासे युक्त है। 'यथावस्थित प्रमाण-लक्षणके आविर्भाव द्वारा इनके व्यामोह (भ्रम) को हम दूर कर दें,' इस बुद्धिसे हमारा चित्त प्रमाणलक्षणके कथन करनेमें प्रवृत्ति करता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह व्यामोह (विशेष अज्ञान) दो तरहके लोगोंका है—एक तो **तीर्थ्यलोगों** (जैनेतरों) का, और दूसरे **लौकिक जनोंका**। तीर्थ्योंका व्यामोह **विपर्यासरूप** है, क्योंकि वे प्रमाण और अप्रमाणके विवेकसे रहित होकर विपरीत स्वीकार करते हैं। लौकिक जनोंका व्यामोह **अनध्यवसायात्मक** है, क्योंकि वे मुग्धबुद्धि हैं, तत्त्वको समझते नहीं हैं और न समझनेकी कोशिश करते हैं। इस तरह, एकका विपर्यासात्मक व्यामोह है, तो दूसरेका अनध्यवसायात्मक। पर, व्यामूढ—विपरीतग्रहसे ग्रस्त, अर्थात् मोहसे मूर्छित हुए, दोनों ही हैं। इस सबका **तात्पर्यार्थ** यह है कि यदि अनादिप्रसिद्ध प्रमाणलक्षणमें किसीको व्यामोह न हुआ होता तो जो आपने पहले 'प्रमाणलक्षणका कहना निरर्थक है' ऐसा कहा था, वह ठीक ही होता। लेकिन ऐसा है नहीं; प्रमाणके लक्षणकी मान्यतामें बहुत-से व्यक्ति व्यामूढ (अज्ञानी या विपर्यस्त) भी देखे जाते हैं।

ऊपरके कथनसे दूसरे **कुचोद्यरूपसे** जो 'प्रमाणका लक्षण अनिश्चित है कि निश्चित' इत्यादि दूषण दिया था, वह भी हमको बाधाकर नहीं है, क्योंकि वह **सिद्धसाध्यतामें** आ जाता है। जो बात सिद्ध है उसीको हम सिद्ध करना चाहते हैं, कोई नई बात नहीं सिद्ध करना चाहते। प्रमाणका लक्षण 'स्वपराविर्भावक और निर्बाधक ज्ञान' स्वतः सत् है, उसके लिये किसी दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है और वह व्यवसायरूप (निश्चित) है, अतः स्वसंवेदनसे निर्णीत-निश्चित है और उसका कथन व्यामूढ़ों—जो उल्टा जानते हैं, या बिलकुल ही नहीं जानते है—के प्रति है। इसलिए इसमें दोषका तो अवकाश ही नहीं है। जो प्रमाणके विषयमें व्यामूढ़मनस्क हैं उनके प्रति भी प्रमाणलक्षणके प्रकाशनमें वह दोष ('प्रमाणका लक्षण अनिश्चित है कि निश्चित' इत्यादि) आता है, यह कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि स्वसंवेदनसे जो प्रमाणका लक्षण सिद्ध है उसका वचनसे प्रकाशन होता है, और वचनका व्यापार (उपयोग) व्यामोहके दूर करनेमें ही होता है। जिस तरह खाली पृथ्वीके देखने पर भी, अपने कुदर्शनके व्यामोहसे, जो प्रत्यक्षसे घटादि-राहित्यको नहीं समझता है, उसके प्रति कहते हैं कि 'यहाँ पर घट नहीं है, क्योंकि उसके दीखनेके योग्य सब सामग्री के होते हुए भी वह यहाँ नहीं दीख रहा है'। घटादिशून्यता वहाँ प्रत्यक्षसिद्ध है, वचनसे तो खाली व्यामोह दूर किया जाता है; वैसे ही विद्वानोंको यहाँ भी समझना चाहिये। प्रमाणका लक्षण अध्यक्ष (प्रत्यक्ष) से निर्णीत है, क्योंकि प्रमाणका लक्षण व्यवसायरूप है; पुनः वचनका उपयोग तो विपरीत आरोप (धारणा)के निराकरणमें होता है, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

इस तरह आचार्यने **सामान्यसे** प्रमाणका लक्षण प्रतिपादन करके तद्गत कुचोद्य (कुतर्क) का भी परिहार किया।

पुनः कारिका २.

व्यक्ति (विशेष)- भेद में कथञ्चित् सामान्यभेदके सिद्धान्तकी मान्यता

दूसरी कारिकामें "प्रसिद्धानि प्रमाणानि" इस पदमें 'प्रमाणानि' बहुवचन है, और प्रमाण दो ही होते हैं, तब यह बहुवचन परोक्षगत भेदोंके दिखलानेके लिये ही है। 'परोक्षत्व' सामान्य अपने व्यक्तियों—परोक्षगत भेदों—में उन्हींकी अपेक्षासे (व्यक्तियोंकी अपेक्षासे) भेदको प्राप्त होता है, यह सिद्धान्त यहाँ आ जाता है और इसका इस बहुवचनके प्रयोगसे प्रदर्शन भी हो जाता है। वह सिद्धान्त यह है कि—अगर व्यक्तियोंका भेद न करो तो प्रमाण एक ही है; व्यक्तियोंका भेद करो तो 'प्रमाण' प्रत्यक्ष, अनुमान और शाब्दरूपसे नानाकारताको धारण करता है, क्योंकि प्रमाण व्यक्तिसे **भिन्न** भी है और **अभिन्न** भी है। व्यक्तिसे भिन्न दशामें वह **एक** है और व्यक्तिसे अभिन्न दशामें **अनेक** है। इसका अर्थ हुआ कि सामान्य **एक** भी है, यदि वह व्यक्तियोंसे **पृथक्** समझा जाय तो; और सामान्य **अनेक** भी, यदि वह व्यक्तियोंसे **पृथक्** न समझा जाय तो। लेकिन यहाँ देखना **यह** है कि सामान्य अपने व्यक्तियोंसे पृथक् और अपृथक् किस तरह हुआ करता है? वही बताते हैं—शब्द या चक्षुरादिसे 'वृक्ष है' ऐसा ज्ञान होनेपर धव, खदिर, पलाश आदि विशेष वृक्षोंकी बिना अपेक्षा किये

साधारण 'वृक्षत्व' प्रतिभासित या माॡम होता है, इसलिए वृक्षविशेषोंसे साधारण वृक्षत्व भिन्न है, क्योंकि घटादिके समान अलग आकारसे वह ज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है। परन्तु जिस समय हम साफ़-साफ़ धव, खदिर, पलाश आदि विशेषोंको देखते हैं उस समय तो उन विशेषोंको छोड़नेवाले रूप (आकार) से वृक्षत्व नहीं दिखलाई पड़ता, इसलिए वह उनसे अभिन्न है, क्योंकि, अपने स्वरूपके समान उन वृक्ष विशेषोंसे अभिन्न उसका संवेदन होता है। यहाँ कोई कहे—कि सामान्यका विशेषसे अभिन्न रूप ही तात्त्विक (असली) है, क्योंकि वही जलाने, पकाने आदि कार्योंके करनेमें समर्थ होता है, तथा जो रूप विशेषसे भिन्न है, वह कल्पना-बुद्धिसे उपार्जित है, इसलिए अवस्तुरूप है,—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जब हमें दोनों ही रूप दिखते हैं तब एक रूपका निह्नव (छिपाना) नहीं किया जा सकता है। अगर दोनों रूपोंके दिखते हुए भी एक रूपका निह्नव किया जा सकता है, तो 'भिन्न-रूप ही स्वाभाविक है, अभिन्न रूप कल्पना-बुद्धिसे दर्शित है,' ऐसा कहनेवालोंका भी मुँह बन्द नहीं किया जा सकता। कार्य करनेकी सामर्थ्यविशेष तो विशेषभिन्न सामान्यमें भी कोई मुश्किल नहीं है, वह भी ज्ञान एवं साधारण व्यवहारके करानेमें कुशल है। देखो, धवल, धावलेय आदि विशेषोंका प्रतिभास न होनेपर भी केवल सामान्य 'गाय है, गाय है' ऐसा सामान्यज्ञान उत्पन्न करता है, तथा 'यह गाय है, यह गाय है' ऐसा साधारण व्यवहार भी। यदि पुनः सामान्यको विशेषोंसे भिन्न नहीं मानेंगे, तो सामान्यपूर्वक होनेवाला ज्ञान और सादृश्य-व्यवहार भी नष्ट हो जायगा। दूसरे, अर्थक्रिया-कार्य करना' यह कोई वस्तुका लक्षण नहीं है, ऐसा हम आगे बतायँगे इसलिए सर्वत्र सामान्य और विशेष भिन्न और अभिन्न दोनों रूप हैं। यही दिखानेके लिये 'प्रामाणिक' ऐसा बहुवचनका निर्देश कारिकामें किया है।

कारिका ४.—अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥ ४ ॥

प्रमाणविषयक संख्याविप्रतिपत्तिका निराकरण करते हुए पहले जो प्रमाणके भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष किये थे, उन प्रमाण-व्यक्तियोंके लक्षणमें भी दूसरे दार्शनिक विवाद करते हैं, इस कारण उनका भी लक्षण कहना चाहिये, इस हेतुसे ग्रन्थकार पहले प्रत्यक्षका लक्षण कहते हैं, फिर परोक्षका—

"साक्षात् रूपसे जो ज्ञान बाह्यार्थकी अपेक्षासे अर्थका ग्राहक है, वह प्रत्यक्ष है, और इससे विपरीत परोक्ष जानना चाहिये ॥ ४ ॥"

यहाँ 'प्रत्यक्ष' यह लक्ष्यका निर्देश है, और 'साक्षात् बाह्यार्थकी अपेक्षासे अर्थका ग्राहक ज्ञान' यह लक्षणनिर्देश है। परोक्षका अर्थ होता है 'इन्द्रियोंके विषयोंसे परे' उससे जो भिन्न वह अपरोक्ष, अपरोक्षका भाव अपरोक्षता है। इसका अर्थ हुआ साक्षात्कारता। 'अर्थ' की व्युत्पत्ति दो तरह-की होती है—एक तो, जो जाना जाय (अर्यते अवगम्यते इत्यर्थः) वह अर्थ है, और दूसरे जो चाहा जाय, दाह पाक आदि कार्योंके करनेकी इच्छा रखनेवाले जिसे चाहें वह अर्थ है। [illegible] ग्राहकका अर्थ है व्यवसायात्मकरूप होनेसे साक्षात् परिच्छेदक। इन सब विशेषणोंसे विशिष्ट ज्ञान ही 'प्रत्यक्ष' हो सकता है और कोई अन्य चीज नहीं, यह यहाँपर और भी ध्यान देने योग्य है।

१. ज्ञान ही प्रत्यक्ष (प्रमाण) हो सकता है

प्रत्यक्षके लक्षणमें जो 'ज्ञान' ऐसा विशेष्य पद है, उससे **सांख्य** जो यह कहते हैं कि— 'श्रोत्रादिवृत्ति प्रत्यक्षमिति—श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी जो क्रिया है वह प्रत्यक्ष है,' उसका तिरस्कार करते हैं। उनके मतसे श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ प्रकृति (जड़) के विकार हैं। उनकी क्रिया या उपयोग, वह भी जड़ होनेसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अगर ऐसा कहें कि 'जो-जो अर्थके ज्ञानमें कारण है वह-वह प्रत्यक्ष है,' तो आलोक प्रकाश आदि जो जड़ कारण हैं, उनके समुदायकी क्रियाको भी प्रत्यक्षता हो जायगी, क्योंकि अर्थके ज्ञानमें वे भी कारण होते हैं। **श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ और आलोक आदि अन्य जड़ कारण-कलाप** दोनों ही यद्यपि अर्थके ज्ञानमें कारण हैं, तथापि इन्द्रियोंकी वृत्ति, अर्थात् विषयाकार परिणत इन्द्रियाँ, तो प्रत्यक्ष हैं, अन्य आलोकादि जड़ कारणकलाप नहीं,—ऐसा तो कह नहीं सकते हैं, क्योंकि दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है; दोनों ही समान रूपसे अर्थके ज्ञानमें कारण हैं।

२. ज्ञान 'स्व' की तरह 'पर-बाह्यार्थ' का भी ग्राहक होता है.

'ग्रहणेक्षया अर्थस्य ग्राहकं—बाह्यार्थकी अपेक्षासे अर्थका ग्राहक' ऐसा उल्लेख करनेसे जो **योगाचारादिक** ऐसा मानते हैं कि सकल ज्ञान बाह्य अर्थके ग्रहणसे शून्य होते हैं, उनका निरास किया है। अपने (ज्ञान) अंशके ग्रहणमें जैसे अन्तःसंवेदनका व्यापार होता है, वैसे ही बाह्य अर्थके ग्रहणमें भी होता है, नहीं तो अर्थकी ही तरह ज्ञानकी सन्तानान्तर (अन्य धाराएँ) भी नष्ट हो जाएँगी। योगाचार सन्तानान्तर इस तरह सिद्ध करते हैं—'विवक्षित देवदत्तादिसे भिन्न यज्ञदत्त आदिमें व्यापार (क्रिया) और व्याहार (बोलना), दोनों बुद्धि (ज्ञान) पूर्वक होते हैं, **व्यापार और व्याहार होनेसे,** वर्तमान व्यापार और व्याहारके समान'—यह सन्तानान्तरका साधक अनुमान है। इस अनुमानका आशय यह है कि व्यापार और व्याहार ये दोनों ज्ञानके कार्य हैं, विना ज्ञानके **क्रिया** (हलन चलन) और **बोलना** नहीं हो सकते हैं। जैसे देवदत्तमें हलन-चलन रूप क्रिया और भाषण हम ज्ञानपूर्वक देखते हैं, वैसे ही हम यज्ञदत्तमें देख रहे हैं कि वह हिल-चल रहा है, बोल रहा है, तो हम तुरन्त समझ जाते हैं, या अनुमान कर लेते हैं कि उसमें भी कोई ज्ञान नामकी वस्तु है। देवदत्तकी ज्ञानसन्तानका दूसरी है, और यज्ञदत्तको ज्ञानसन्तान दूसरी है। इस तरह जहाँ-जहाँ या जिस-जिसमें हम हलन-चलन रूप क्रिया और बोलना देखेंगे, वहाँ-वहाँ या उस-उसमें ज्ञानकी सन्तानका अनुमान कर लेंगे। ऐसी ज्ञानकी अन्य सन्तानें बहुत-सी हैं। यह सन्तानान्तर-साधक अनुमान 'ज्ञान' है, और आपके मतसे जितने ज्ञान हैं, वे सब बाह्य पदार्थके आलम्बनसे रहित होते हैं, जैसा कि आप कहते हैं—'सर्वे प्रत्यया निरालम्बमानाः, **प्रत्ययत्वात्**, स्वप्नप्रत्ययवत्।'—अर्थात् 'स्वप्नज्ञानके समान, सब ज्ञान, **ज्ञान होनेसे ही,** निरालम्बन होते हैं,' अत्र ज्ञान होनेसे यह सन्तानान्तर-साधक अनुमान भी स्वप्नज्ञानके दृष्टान्तसे, भ्रान्तमेव हो जायगा। इस अनुमानके भ्रान्त होनेसे सन्तानान्तर-सिद्धि नहीं होगी, सन्तानान्तर-सिद्धिके न होनेसे स्वविज्ञान ही सन्तानान्तर रूपसे वृद्धिको प्राप्त करेगा, वास्तविक सन्तानान्तर नहीं होगा। वास्तविक सन्तानान्तर न होनेसे और केवल अपना ज्ञान ही होनेसे यह प्रमाण है, यह प्रमेय है, यह प्रतिपाद्य है,

और यह प्रतिपादक है, तथा यह कार्य है और यह कारण है, ये जो कार्य-कारणादि भाव (संबंध) हैं, वे नष्ट हो जायँगे। जब कार्य-कारणभावादि भी नष्ट हो जायँगे, तब अपनेको छोड़कर अपने जो पूर्व, उत्तर क्षण हैं, उनमें भी ज्ञानकी प्रवृत्तिका निरोध हो जायगा। यहाँ ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार कहेगा कि—ठीक, अद्वय विज्ञानतत्त्वका साधन करनेसे आप तो हमारे अनुकूल ही कह रहे हैं,—किन्तु यह हमारा कथन तो तुम्हारे अनुकूल तब पड़े जब तुमको, एक ओर तो प्रमाणपरिदृष्ट सकल व्यवहारका उच्छेदन और, दूसरी ओर जिसको किसीने भी नहीं देखा है, ऐसे अद्वयतत्त्वकी परिकल्पना प्रतिकूल न पड़ती हो। इसलिए बाहर बिना अर्थके हुए प्रमाणभूत ज्ञानका उल्लास (प्रकाश) नहीं हो सकता है, अगर होता है तो निर्हेतुकत्व—बिना किसी कारणके उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग आ जायगा।

३. 'ग्राहकका' अर्थ निर्णायक

चूंकि निर्णयके अभावमें अर्थग्रहण नहीं होता है, इस लिए, 'ग्राहक' का अर्थ निर्णायक लेना चाहिये। इससे तथागतों (बौद्धों) ने जो प्रत्यक्षका लक्षण—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् [न्यायबिन्दु ४]—" 'कल्पना अर्थात् विकल्पसे रहित और अभ्रान्त जो होता है वह प्रत्यक्ष होता है—ऐसा किया है, वह खण्डित हो जाता है, क्योंकि इस लक्षणमें कोई ठीक युक्ति नहीं है। यही दिखाते हैं—प्रत्यक्षके इस लक्षणमें 'कल्पनापोढ—कल्पनासे रहित' और 'अभ्रान्त'—जो भ्रान्त (विपरीतग्राही) नहीं है,' ऐसे दो पद पड़े हुए हैं। उनमेंसे पहिले 'कल्पनापोढ' पदपर विचार करते हैं।

(१) बौद्धद्वारा प्रत्यक्षके निर्विकल्पकत्वका समर्थन

ताथागत अध्यक्ष (प्रत्यक्ष) के निर्विकल्पकत्व (कल्पनापोढत्व) में इन [illegible] युक्तियोंको पेश करते हैं:—

१. यह निश्चित है कि 'अध्यक्ष' अर्थकी सामर्थ्यसे उदित होता है, क्योंकि यह सन्निहित और अर्थक्रिया (कार्य करने) में समर्थ अर्थका ग्राहक होता है, और अर्थमें ध्वनि तो होती नहीं है, क्योंकि वे घटादि अर्थके जो कारण हैं मिट्टी आदिक, उनसे अन्य जो तालु आदि कारण, उनसे उत्पन्न होते हैं। इसलिए यह अर्थ ही स्वयं पासमें जाकर अपनेको जाननेवाले ज्ञानका उत्पादन करके उसको अपना आकार दे देता है। अतः अर्थग्राही विज्ञानमें शब्दका संश्लेष (संसर्ग) युक्त नहीं है।

२. दूसरी बात यह है कि, उत्पादक—अर्थका ज्ञानमें उपयोग होनेपर भी, यदि ज्ञान यहाँ [illegible] नहीं ग्रहण करेगा, किन्तु स्मरणसे होनेवाले और उस अर्थको कहनेवाले शब्दके प्रयोगकी प्रतीक्षामें लगा रहेगा, तो इसका अर्थ होगा कि उसने (ज्ञानने) अर्थग्रहणको जलाञ्जलि दे दी। यही दिखाते हैं— बिना अर्थको देखे उसमें पहलेसे जाने हुए, उसके अभिधायक शब्दका स्मरण नहीं हो सकता है, क्योंकि स्मरणका कोई उपाय नहीं है। वस्तुके देखनेसे स्मरणकी जागृति होती है, जब वस्तुको ही [illegible] नहीं देखा तो उसमें पहलेसे जाने हुए (गृहीत संकेतक) उसके वाचक शब्दका कैसे स्मरण हो सकता है।

जव **स्मरण** नहीं होगा। तव सामने उपस्थित अर्थमें उसका **प्रयोग** नहीं कर सकेगा, क्योंकि वस्तुको कौन शव्द कहता है, इसका विना स्मरण हुए शव्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है; और जव उस अर्थमें शव्दका प्रयोग नहीं कर सके, तो आपके मतसे तो उसको देखा ही नहीं यही अर्थ आया। इस तरह सव जगह अन्धापन फैल जायगा।

३. यदि इन्द्रियजन्य ज्ञानको भी विकल्पसे कलुषित माना जायगा, तो वह भी मनोराज्य (मन-का राज्य, वास्तविक नहीं) आदिके विकल्पके समान अन्य विकल्पके होनेपर चला जायगा; लेकिन ऐसी वात तो है नहीं। पासमें खड़ी या वैठी हुई गायको देखनेका चक्षुर्जन्य ज्ञान, घोड़ा आदिकी वावत विचार आनेपर भी हट नहीं जाता है, वरावर वना ही रहता है।

४. जिस पुरुषके सकल विकल्प हट गये हैं, ऐसे उस विकल्पातीत पुरुषको भी परिस्फुट सन्नि-हित अर्थके विषयका दर्शन (प्रत्यक्ष) वरावर होता रहता है।

इसलिए इन सव युक्तियोंका निचोड़ यह निकला कि अक्षज ज्ञानमें शव्दका सम्पर्क नहीं रहता है।

अव इसकी जैनद्वारा समीक्षा

१. आपने जो यह कहा था कि, अशव्दक अर्थसे उत्पन्न होनेसे अध्यक्ष शव्द रहित है, तो यह तो ठीक नहीं है, क्योंकि शव्दसे असंपृक्त अर्थसे जन्य है, इतने ही कारणसे तो 'ज्ञान विना शव्दके होता है' ऐसा कह नहीं सकते हैं। अगर कहेंगे, तो ज्ञान जड़ अर्थसे उत्पन्न है, अतएव वह भी जड़ हो जायगा। कदाचित् कहो कि—वोधरूप मनस्कार (मनका उपयोग) सहित होनेसे वह जड़ नहीं है—तो ऐसा माननेपर तो, शव्दके साथ चिपके हुए मनके उपयोग सहित होनेसे वह (ज्ञान) साभिलाप (शव्दसहित) भी हो जायगा। दूसरी वात यह है कि, पृथक्-पृथक् परमाणु अपना आकार ज्ञानको दे करके अपनेको (परमाणुओंको) जाननेवाले ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, ऐसा आप मानते हैं। यहाँ **पहले** हमारा पूछना यह है कि जव परमाणुमें कोई आकार होता ही नहीं है, तो वे **उसे कैसे चला देंगे ?** थोड़ी देरकी मान लिया कि वे अपना आकार रखते हैं, **तव** यह प्रश्न होता है—आकार तो अलग-अलग परमाणुओंका अपने-अपने अवयवमें रहता है, **सो यह आकार ज्ञानमें कैसे चला जाता है ?** यह एक विचित्रताकी वात है? अच्छा किसी तरह थोड़ी देरके लिए यह भी मान लिया कि उनका उनके अवयवोंमें रहनेवाला आकार, किसी रहस्यमय ढँगसे ज्ञानमें चला जाता है, तव पुनः **तीसरा प्रश्न** यह होता है कि **यह आकार ज्ञानमें हमेशा कैसे वना रहता है ?** विविध परमाणुओंने वर्तमानमें अपना आकार वर्तमानक्षणवर्ती ज्ञानको दे दिया, अव इस आकारको ज्ञान तो कभी नहीं भुलाता, या वहुत समय तक वनाये रखता है **यह कैसे ?** आकारको देनेवाले पदार्थके चले जानेपर भी ज्ञानमें वह आकार हमेशा या वहुत समयतक वना रहता है, सो **जिसका आकार उसके अभावमें भी** यह आकार ज्ञानमें कालान्तरमें कैसे रह जाता है?—ये कुछ प्रश्न हैं जो कि आपके सिद्धान्तके माननेमें चित्तमें कुछ खलवली पैदा करते हैं। आप इसका उत्तर देंगे कि ऐसा यह सव विभ्रम (भ्रान्ति) से

माळूम पड़ता है। लेकिन हम इसे 'विभ्रम' कैसे मान लें, जब कि पदार्थमें वर्तमानमें जो है वही ज्ञानमें प्रतिभासित होता है। लेकिन परमाणुजन्य ज्ञानमें ऐसी बात नहीं है।

> परमाणुमें स्थूल आकार नहीं है, फिर भी ज्ञानमें स्थूल आकार ही दिखाई देता है। इसी तरह, अर्थमें यद्यपि शब्द विद्यमान नहीं है, तथापि अर्थग्राही ज्ञानमें वह प्रतिभासित होवे, इसमें आपका क्या जाता है ?

२. 'प्रत्यक्ष शब्दसंपृक्त होता है,' इस पक्षके हटानेके लिए जो आपने दूसरी बात यह कही थी कि—अर्थग्रहणको मुख्य न मानकर शब्दसंयोजनाको यदि मुख्य कार्य ज्ञानका मानेंगे तो अर्थग्रहण तो एक तरफ़ रह जायगा और सब जगत्में अन्धेपनका साम्राज्य छा जायगा—सो यह बात तो आपके पक्ष (प्रत्यक्ष सर्वथा निर्विकल्पक होता है यह पक्ष) में भी लागू होती है। देखिये—स्वलक्षणके विषयमें इन्द्रियज निर्विकल्पक ज्ञानके सद्भाव होनेपर भी जबतक पीछेसे 'यह है' यह विधिविकल्प और 'यह नहीं है' यह प्रतिषेधविकल्प नहीं होगा, तबतक इन्द्रियज निर्विकल्पक ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) से 'यह वस्तु है' और 'यह नहीं है' इस प्रकार अर्थकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी, जैसा कि आपने कहा भी है,—"प्रत्यक्षको प्रमाणता उसी अंशमें है जिस अंशमें वह विकल्पको उत्पन्न करता है।"[1] निर्विकल्पक है, लेकिन व्यवहारमें वह नहींके समान ही है, क्योंकि व्यवहारमें उसका कोई उपयोग नहीं। और वह विकल्प उसी व्यक्तिको हो सकता है, जो कि संकेतकालमें होनेवाले शब्द-सामान्यको स्मरण कर रहा है। जिस कालमें 'इस अर्थको कहनेवाला यह शब्द है और इस शब्दके कहनेसे यह अर्थ समझना चाहिए' ऐसा शब्द और अर्थका वाच्य-वाचकभाव संबंध ग्रहण किया था, वह काल 'संकेतकाल' कहा जाता है। लेकिन अब प्रश्न यह है कि—इस शब्द-सामान्यके स्मरणका बीज कहाँसे जगेगा ? शब्द-सामान्यका स्मरण कैसे होगा ? कहोगे कि—निर्विकल्पक अर्थके दर्शन (प्रत्यक्ष) से शब्दसामान्यका स्मरण हो जायगा.—तो निर्विकल्पक अर्थका दर्शन भी निर्विकल्पक होनेसे अर्थसे ज्यादा तो उसमें कुछ आ नहीं गया, सो वह कैसे सामान्य विषयक विकल्पके बीजको जागृत करेगा !

> जब 'अर्थ' और 'अर्थका दर्शन' ही निर्विकल्पक हैं, तब 'अर्थका दर्शन' तो अभिलापसामान्यका स्मरण करादे और 'अर्थ' नहीं कराये, यह आपका कदाग्रह है।

इसलिए, अर्थके समान, तद्विषयक दर्शन भी व्यवसाय-(विकल्प) शून्य होनेसे अभिलापसामान्यके स्मरणके बीजको प्रबुद्ध नहीं करता है, जबतक उसका स्मरणबीज प्रबुद्ध नहीं होगा तबतक स्मरण नहीं होगा, जबतक स्मरण नहीं होगा, तबतक शब्द-योजना नहीं होगी, जबतक शब्द-योजना नहीं होगी, तबतक अर्थका निश्चय नहीं होगा, जबतक अर्थका निश्चय नहीं होगा तबतक व्यवहार नहीं होगा, जबतक व्यवहार नहीं होगा, तबतक अनदेखेसे उसमें कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा, और अनदेखेसे देखेमें फ़र्क न कर सकनेसे ज्ञाताका अन्धापन ही माळूम पड़ता है। अतः

---

१. "यत्रैवांशे विकल्पं जनयति, तत्रैवास्य प्रमाणता"—हेतुबिन्दु।

जैसे किसी भी तरहका निर्णय न होनेसे स्वयं अप्रतीत भी **निर्विकल्पकदर्शन** वासनाके प्रबोधद्वारा कतिपय अंशको ग्रहण करनेवाले विकल्पको खड़ा करके अपनी क्रियाको शब्द-मय बना देता है, वैसे ही **अर्थ भी** यदि, स्वयंको जाननेका स्वभाव न होनेसे, चक्षुरादि सामग्री (कारणकलाप) के भीतर आ जानेसे स्वयं अप्रतीत ही–जैसे चक्षुरादि अन्य कारण स्वयं अप्रतीत-अपनेको न जानते हुए भी ज्ञानके कारण तो हो जाते हैं–संकेतकालमें होनेवाले अभिलापसामान्यविषयक आत्मामें जो संस्कार हैं, उसके प्रबोधद्वारा अपने (अर्थ) को विषय करनेवाले संवेदनको शब्दयुक्त उत्पन्न करे, तो इसमें कोई अनुचित नहीं दीखता है।

३. यह सविकल्पक बोध मनोराज्य आदि विकल्पके समान नहीं है, क्योंकि यह (सविकल्पक बोध) **चक्षुरादि सामग्रीसे** उत्पन्न होता है, अर्थात् इसके उत्पन्न होनेका कोई ठोस आधार है, जब कि मनोराज्य आदि विकल्प—जो मानस विकल्प हैं—केवल मनसे ही उत्पन्न होते हैं, उनके बाह्य आधार कुछ भी नहीं है। अतः कैसे वह, मनोराज्य आदि विकल्पके समान, विकल्पान्तरके आ जानेपर चला जायगा? मानस विकल्प ही विकल्पान्तरके आनेपर हट जाता है, **इन्द्रियज विकल्प तो** कारणकी वजहसे बलात् होता है।

४. इस ऊपरके कथनसे—'विकल्पातीत अवस्थामें यह इन्द्रियज विकल्प प्रकट नहीं होगा—' यह भी प्रतिक्षिप्त हो गया, क्योंकि इन्द्रियज विकल्प प्रमाताकी इच्छामात्रसे नष्ट नहीं किया जा सकता, केवल मानस विकल्पही उसकी इच्छासे हट सकता है। इस बातको हमने 'शब्दसंपृक्त प्रत्यक्षपक्ष' से 'एकान्तनिर्विकल्पक प्रत्यक्ष-पक्ष' में ज्यादा पाप है, ऐसा बतलाते वक्त प्रकट किया था।

परमार्थसे तो हम भी प्रत्यक्षमें साक्षात् शब्दका उल्लेख नहीं मानते हैं, क्योंकि वह स्पष्ट निश्चयके साथ अर्थको साक्षात् करता है। केवल परपरिकल्पित क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले, अलग-अलग परमाणुरूप स्व-लक्षणको **निर्विकल्प प्रत्यक्ष** विषय करता है, इसके प्रतिषेधके लिये, अथवा प्रत्यक्ष **कथञ्चित्** (किसी दृष्टिसे) अभिलापके संसर्गके योग्य है, इस बातके दिखानेके लिये उसे सविकल्पक कहते हैं। सविकल्पक भी कहनेका कारण यह है कि ऐसे स्तम्भादिक पदार्थको विषय करता है जो संनिहित है, स्पष्ट है तथा-जो अपने अवयवोंमें रहता हैं; ये स्तम्भादिक पदार्थ कालान्तरमें भी बने रहते हैं, अपनी क्षणिक पर्यायका ध्यान नहीं दिलाते हैं, अपने द्वारा परमाणुकी गोलाईका पता नहीं देते हैं, इनका आकार कुछ पदार्थोंके साथ मिलता है और कुछके साथ नहीं मिलता तथा जिन परमाणुओंसे ये बने हैं उनका खाली सामान्याकार इनमें है। इस तरह, जिस अर्थका प्रत्यक्ष किया गया है उसमें, संज्ञा (नाम) और संज्ञी (उस नामवाला अर्थ) सम्बन्धका जानना आदि और तद्विषयक जितने शब्दके व्यवहार हैं, वे सब मुख्यरूपसे ही होते हैं ऐसा निष्कर्ष निकला। यदि आप ऐसा पूछो—प्रत्यक्षको शब्दके संसर्गके योग्य प्रतिभासवाला न मानें, तो क्या दोष होगा?—तो **दोष** यह होगा कि विकल्पके न उठनेसे (उसके अस्तित्वमें न आनेसे) **सविकल्पव्यवहारके उच्छेदका प्रसंग** आ जायगा। देखो दर्शन तो निर्व्यवसाय (अनिश्चयात्मक) है, इस कारण कैसा भी चतुर स्मृतिके बीज (धारणा) का आधान

(संस्थापना) हो या स्मृति-बीजके आधानके बाद होनेवाले निर्व्यवसाय अर्थका दर्शन हो, वह अभ्यासकी वासनाका चातुर्य होनेपर भी स्मृतिबीज (धारणा) के प्रबोधनमें समर्थ नहीं है, क्योंकि सामान्यरूप विकल्पकी उत्पत्तिसे व्यवहारकी प्रवृत्ति होती है और तुम्हारे द्वारा मान्य क्षणिकत्वादिकमें, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उन्हें जानता है, ऐसा स्वीकार करने पर भी सदाकाल सामान्यविकल्प नहीं दिखाई देता है। इसलिए जिस-किसी अर्थांशमें पीछेसे व्यवहारकी प्रवृत्ति होती है, उसमें पूर्व संवेदनको निर्णायक मानना चाहिये, नहीं तो क्षणिकत्वादिक अंशके समान सभी अंशोंमें व्यवहारका लोप हो जायगा।

अतःप्रत्यक्षका कल्पनापोढ़त्व (निर्विकल्पकत्व) कभी भी प्रमाताकी प्रतीतिका विषय नहीं होता, प्रमाता उसे नहीं समझता। एक तरफ़ तो कहना कि उसकी (कल्पना-विकल्पकी (प्रतीति नहीं होती है, और दूसरी ओर उसका अस्तित्व बताना, ये दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। इनपर एकसाथ श्रद्धान नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसे श्रद्धान करनेसे जितनी परस्पर विरोधी बातें हैं, उन सभीपर श्रद्धान करना पड़ेगा, यह **अतिप्रसंग** **नामक दोष** आ जायगा। विना मर्यादाके किसी अमुक कार्य या बातका बढ़ते चले जाना '**अतिप्रसंग**' है। अतएव बौद्धाभिमत 'कल्पनापोढ़त्व' प्रत्यक्षका लक्षण नहीं हो सकता।

२. 'अभ्रान्तत्व' का भी खण्डन.

आपके प्रत्यक्षके लक्षणका 'अभ्रान्तत्व' विशेषण भी नहीं घटता है, क्योंकि आपके अभिप्रायमें तो स्थिर और स्थूल अर्थको जाननेवाला संवेदन गलत है, परन्तु यह आपको जानना चाहिये कि **क्षणिक और सूक्ष्म अर्थका ग्राही ज्ञान स्वप्नमें भी सम्भव नहीं है।** सो यदि आप 'अभ्रान्त' का अर्थ यह करें—कि 'जो यथावस्थित अर्थको ग्रहण करता हो वह **अभ्रान्त** है,' तो ऐसा अभ्रान्त तो संभव नहीं होता है, क्योंकि यद्यपि परमाणुओंका वास्तविक अस्तित्व है, तथापि वे अपनी अलग-अलग सूक्ष्मावस्थामें और क्षणिकरूपसे कभी नहीं दिखते। यदि व्यावहारिक प्रयोजनवशसे अभ्रान्तका यह अर्थ अभीष्ट हो कि 'अपने कार्य करनेमें समर्थ यह जो घटादिक स्वलक्षण है, उसमें जो भ्रान्त नहीं होता वह **अभ्रान्त** है,' तो फिर 'कल्पनापोढ' पद लक्षणमेंसे निकाल देना चाहिये, क्योंकि अब ऐसा अर्थ करनेपर

अभ्रान्तत्वका इस पद ('कल्पनापोढ') के साथ मेल नहीं खायेगा। व्यवहारमें आनेवाले घटादि-स्वलक्षणके निर्णय (निश्चय) से ही ज्ञानका होना कहा जाता है, नहीं तो व्यवहार नहीं हो सकेगा, यह पदार्थ भी अदृष्टसे कुछ विशेषता नहीं रखेगा, अर्थात् जैसे अदृष्ट पदार्थका कोई निर्णय न होनेसे उसमें व्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, वैसे ही दृष्टमें भी, निर्णय न होनेसे व्यवहार नहीं बन सकेगा। अतः दोनों समान हो जायेंगे; इसलिए **प्रत्यक्ष** व्यवसायात्मक है, यह सिद्धान्त ही ठीक है।

'अपरोक्षतया' ऐसा कहनेसे अपना परोक्षके लक्षणसे रहित है, ऐसा दिखलाया है, क्योंकि वह साक्षात्कार करके अर्थको जानता है।

'ईदृशम्'—इस पदसे विशेषणोंसे विशिष्ट ज्ञानका ग्रहण है, इससे **दूसरोंके द्वारा परिकल्पित प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन होता है।** तब यह जो कहा जाता है:—इन्द्रिय और अर्थके सम्बन्धसे उत्पन्न, शब्दसे जिसको नहीं कह सकते हैं (अव्यपदेश्य), जिसमें कोई दोष नहीं आता है, व्यवसायात्मक (सविकल्पक) जो ज्ञान है वह **प्रत्यक्ष** है (यह नैयायिकका प्रत्यक्षका लक्षण है); तथा इन्द्रियोंका वस्तुके साथ सम्बन्ध होनेपर पुरुषको जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह **प्रत्यक्ष** है (यह मीमांसाका प्रत्यक्ष-लक्षण है), इत्यादि,—यह अयुक्त है, क्योंकि नवीनकी उत्पत्ति, अर्थात् जो चीज़ पहले नहीं थी उसकी उत्पत्ति, प्रमाणसे बाधित है। अगर नवीन (असत्) की भी उत्पत्ति होने लगे, तो बिल्कुल भी नहीं होनेवाले जो खरगोशके सींग आदि वस्तुएँ हैं, उनकी भी उत्पत्ति होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। इसलिए ज्ञानरूपसे पहलेसे ही विद्यमान ज्ञान अपनेमें कुछ विशेषता (पर्यायान्तर) कर सकनेवाले कारण-कलापकी वजहसे साक्षात् अर्थको जाननेरूप जो परिणाम, तद्रूपसे वृत्ति (पर्याय) धारण करता है। पहलेसे ही विद्यमान ज्ञानके पर्यान्तरित होनेकी हालतमें 'उत्पन्न' (नैयायिकके प्रत्यक्षके लक्षणमें), 'जन्म' (मीमांसकके प्रत्यक्षके लक्षणमें) आदि विशेषण सम्भव नहीं होते हैं। अगर कहो कि—हमारे द्वारा किये गये प्रत्यक्षके लक्षणसे भी यही ध्वनि निकलती है,—तो ठीक ही है, फिर हमें उसमें कुछ नहीं कहना है। इसलिए इस प्रकरणको यहीं छोड़ते हैं।

परोक्षका लक्षण

जो ज्ञान साक्षात् अर्थको नहीं जानता है, उसे **परोक्ष** ज्ञान जानना चाहिये। स्वसम्वेदनकी अपेक्षासे तो यह भी प्रत्यक्ष ही है, केवल बहिरर्थकी अपेक्षासे इसे 'परोक्ष' कहते हैं। कारिकामें जो 'ग्रहणेक्षया' पद दिया है उससे यही द्योतित होता है 'ग्रहण' कहते हैं क्रम-क्रमसे बाहरकी ओर जानेको। अगर इसका यह अर्थ नहीं होगा तो यह विशेषण ही व्यर्थ हो जायगा। अतः इसका यही अर्थ है। ग्रहणकी 'ईक्षा' याने **अपेक्षा**, इससे। इसका अर्थ, हुआ **बाह्य प्रवृत्तिके विचारसे**। सो कुलका यह अर्थ निकला:—यद्यपि जिसे हम 'परोक्ष' ज्ञान कहते हैं, वह स्वयं तो प्रत्यक्ष ही है, तथापि **लिङ्ग** (साधन), **शब्द आदि द्वारा** बाह्य विषयके जाननेमें वह साक्षात्कारी होता है, इस कारण उसको 'परोक्ष' कहते हैं।

> यह 'परोक्ष' **बुभुत्सित (जिज्ञासित) अर्थकी अपेक्षासे** 'प्रत्यक्ष' है और **बुभुत्सित अर्थके विना न होनेवाले अर्थान्तरकी प्रतीतिकी अपेक्षासे** 'परोक्ष' है; इस तरह यह उभयधर्मक है।

अपने सामान्यलक्षणके होनेसे परोक्षज्ञानका एक ही आकार है, किन्तु विवादके निराकरणके लिये उसके **दो** भेद कर देते हैं—एक तो **अनुमान** और दूसरा **शाब्द**, क्योंकि आजतक भी दूसरे दार्शनिक 'विना आप्तके शाब्द नहीं हो सकता है,' ऐसा नहीं मानते हैं। इसलिये उसे विना अनुमानसे पृथक् किये उसका स्पष्टरूपसे परोक्षपना नहीं बतला सकते, अतः उसको अनुमानसे अलग कर दिया है॥ ४॥

कारिका ५.—साध्याविनाभुनो लिङ्गात्साध्यनिश्चायकं स्मृतम् ।
अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥ ५ ॥

अनुमानका लक्षण कहते हैं:—

‘ साध्यके विना न होनेवाले लिङ्गसे साध्यका निश्चय करानेवाला जो ज्ञान है, उसे अनुमान कहा गया है । वह अनुमान अभ्रान्त है, **प्रमाण होनेसे,** प्रत्यक्षकी तरह ॥ ५ ॥’

यहाँ भी ‘ अनुमान ’ यह **लक्ष्यका निर्देश** है, क्योंकि वह प्रसिद्ध है और ‘ साध्यके विना न होनेवाले लिङ्गसे साध्यका निश्चय करानेवाला ’ यह **लक्षणका निर्देश** है, क्योंकि यह अप्रसिद्ध होनेसे विधेय है। पहले ‘ प्रमाण ’ शब्दकी जैसे कर्तृ आदि कारकोंमें व्युत्पत्ति की थी और फिर उनका अर्थ किया था, उसीतरह यहाँ भी ‘ अनुमान ’ शब्दका प्रत्येक कारकमें व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थका कथन जानना चाहिये । तदनुसार यहाँ भी ‘ अनु’–लिङ्ग (साधन) देखने या जाननेके बाद साध्य और उसके बिना न होनेवाले लिङ्ग दोनोके संबन्धके स्मरणके अनन्तर–अनुमेय पावक आदि अर्थ जिस ज्ञानके द्वारा ‘ मीयते ’ जाना जाता है, वह **अनुमान** है । कैसा है वह अनुमान ? ‘ साध्यनिश्चायक ’ जो साधनेके योग्य है या जिसका साधन हो सकता है वह साध्य है, अर्थात् अनुमेय है, उसका ‘ निश्चायक ’ अर्थात् उसके स्वरूपका निर्णायक, यह अर्थ समझना चाहिये । वह साध्यका निश्चय कैसे होता है ? लिङ्गसे: जिसके द्वारा अर्थ ‘लिङ्ग्यते’–जाना जाता है वह लिङ्ग है, अर्थात् हेतु, उससे । वह लिङ्ग साध्यके बिना नहीं होता है । जो साध्यको छोड़कर, अर्थात् साध्यके अभावमें, नहीं होता है ऐसे लिङ्गसे साध्यनिश्चायक जो ज्ञान होता है उसे नीतिमन्तोंने **अनुमान** माना है । इनमेंसे ‘ लिङ्गसे साध्यका निश्चायक ’ इस विशेषणसे प्रत्यक्ष और शाब्द प्रमाणके लक्षणसे अनुमानको अलग किया है । ‘साध्यके बिना न होनेवाले–साध्याविनाभु’ इस विशेषणसे दूसरे वादियोंद्वारा प्रणीत लिङ्गके लक्षणोंका निराकरण किया है । इनमेंसे यहाँ बौद्धके त्रिरूप लिङ्ग का खण्डन करते हैं ।

बौद्धका कहना है कि–पक्षधर्मत्व, अन्वय और व्यतिरेक ये जो तीन रूप, [illegible] तीन ही लिङ्ग–अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य—होते हैं । जैसा कि उनके यहाँ कहा भी है—

‘अनुमेय, यानी पक्ष’ में हेतुका प्रत्यक्ष या अनुमानसे देखा जाना । [illegible] देखा जाता है, यह प्रत्यक्षसे हेतुका देखा जाना हुआ । अनुमानसे जैसे, [illegible] जानापना) का अनुमानके द्वारा सद्भाव मालूम पड़ता है । तथा अनुमेयके तुल्य जो सपक्ष है उसमें हेतुका देखा जाना, और ‘असत्’ अर्थात् विपक्षमें हेतुकी नास्तिता, ये तीन रूप [illegible] । ये तीन रूप जिनमें पाये जाते हैं ऐसे अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य ये तीन हेतु होते हैं ।’

इन तीनों लिङ्गों या हेतुओंके दृष्टान्त:—

१. अनुपलब्धिका—जैसे क्वचित्प्रदेशे न घटः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः—किसी प्रदेश-विशेषमें घट नहीं है, क्योंकि होता तो अवश्य दिखता, पर दिखता नहीं है । २. स्वभावका—जैसे, वृक्षोऽयं शिंशपात्वात् — यह वृक्ष है, शिंशपा ([illegible]) होनेसे । ३. कार्यका—जैसे अग्निरत्र धूमात्—यहाँ अग्नि है, धूम होनेसे ।

तथा, वैशेषिकोंने अपने यहाँ कहा है—'साध्यका साधन कहीं कार्य होता है, कहीं कारण, कहीं संयोगी, कहीं समवायी और कहीं विरोधी होता है। इसलिए पाँच प्रकारका लैङ्गिक (अनुमान) है।'

१. कार्यलिङ्गका दृष्टान्त—कार्य कारणपूर्वक देखा जाता है, अतः उपलभ्यमान कार्य अवश्य कारणका गमक होगा। जैसे-विशिष्ट नदीपूरके देखे जानेसे आकाशमें मेघ बरसा है-विशिष्टनदीपूरो पलम्भादुपरि वृष्टो मेघः। यहाँ पर खूब फल, फेन, पत्ते, लकड़ी आदि चीज़ोंके बहनेसे विशेषरूपसे नदीमें जलका प्रवाह पूर्व वृष्टिका कार्य देखा गया है, इसलिए उसके देखे जानेसे यह अनुमान युक्त ही है कि-यह 'नदीपूर' वृष्टिका कार्य है, विशिष्ट नदीपूर होनेसे, पूर्वमें देखे गये विशिष्ट नदीपूरके समान।

२. कारणलिङ्ग का दृष्टान्त—कहीं कहीं कारण भी पूर्वमें कार्य का जनक देखा गया है, अतः उपलभ्यमान कारण भी कार्य का लिङ्ग है, जैसे विशिष्ट (काले-काले) मेघोंका छा जाना वर्षाका कारण है। यहाँ कोई शंका कर सकता है कि—कारण अवश्य ही कार्य का जनक होता हो, ऐसा तो नहीं देखनेमें आता, और कार्य भी किसी नियत कारणसे उत्पन्न होते हुए नहीं देखे गये हैं, जैसे-बिच्छू बिच्छूसे भी उत्पन्न होता है और कभी-कभी गोवर या सर्पसे भी। सो किस तरह कार्यसे कारण-विशेषकी और कारणसे कार्यविशेषकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) होगी? लेकिन इस शंकाका कोई अवकाश ही नहीं है, क्योंकि कारणविशेष (कोई खास कारण) कार्यविशेषका गमक हुआ करता है और कार्यविशेष (कोई खास कार्य) कारणविशेषका गमक (बतानेवाला) होता है, ऐसा हम मानते हैं। और जो व्यक्ति कारण या कार्यकी विद्यमान विशेषताको नहीं जानता है, यह उसीका अपराध है, अनुमानका नहीं।

३. संयोगी लिङ्गका दृष्टान्त—'धूम' अग्निका संयोगी लिङ्ग है। शंका हो सकती है कि—संयोग तो समानरूपसे उभयनिष्ठ है, तो कैसे नियमसे (निश्चितरूपसे) एकको हेतु होनेकी और दूसरेको साध्य होनेकी व्यवस्था है? आपका कहना ठीक है, लेकिन यह बात तो अविनाभावमें भी देखते हैं। देखो, अविनाभाव भी साध्यसाधन उभयनिष्ठ है, फिर उसमें भी एकको 'साध्य' दूसरेको 'साधन' होनेकी व्यवस्था कैसे हो सकती है?—इसके जवाबमें आप कहोगे कि—जिसके होनेसे अनुमेयमें प्रवृत्ति होती है वही साधन है, दूसरा नहीं,—तो फिर यह बात तो संयोगित्वमें भी समान है। जिस संयोगीके होनेसे अनुमेयमें प्रवृत्ति हो सकती हो वही साधन हो सकता है अन्य नहीं।

४. समवायी लिङ्गका दृष्टान्त—उष्णस्पर्श जलमें स्थित तेज (अग्नि) का अनुमान कराता है।

५. विरोधी लिङ्गका दृष्टान्त—जैसे, विस्फूर्जनसे विशिष्ट (फुंकारपूर्वक लड़ता हुआ) सर्प नकुल आदिकके होनेका चिह्न है, अथवा वह्नि शीताभावका लिङ्ग है।

तथा नैयायिक १. पूर्ववत्, २. शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट, ऐसे तीन लिङ्ग मानते हैं।

१. 'पूर्व' का अर्थ है साध्य, 'वत्' का अर्थ है वाला। व्याप्तिद्वारा जिस साधन का साध्य है, वह पूर्ववत् लिंग है)

२. 'शेष' का अर्थ है—पूर्वसे शेष, अर्थात् साध्यसे शेष। साध्यसे शेष तो साध्यसजातीय है, वह जिसके है वह शेषवत् लिंग।

३. और सामान्य रूपसे जो विपक्षमें नहीं देखा गया है, वह सामान्यतोऽदृष्ट है।

अथवा

१. 'पूर्ववत्' उसे कहते हैं जसमें कारणसे कार्यका अनुमान होता है, जैसे—मेघोंके छा जानेसे वृष्टि होगी। इसका प्रयोग ऐसा होगा—ये मेघ वृष्टिवाले हैं, गंभीर गर्जनापूर्वक छाये हुए होनेसे; जो बादल ऐसे होते हैं वे वर्षा करते हैं, जैसे वर्षा करनेवाले पहलेके मेघ; वैसे ही ये हैं; इसलिए अवश्य वर्षा करेंगे।

२. 'शेषवत्' उसे कहते हैं जसमें कार्यसे कारणका अनुमान होता है, जैसे—नदीपूरके देखनेसे वृष्टिका। इसका प्रयोग ऐसा होगा—नदीमें ऊपरसे वर्षा हुई है, अर्थात् नदी ऊपरसे बरसनेवाले जलसे सम्बन्धित है, क्योंकि उसका प्रवाह पहलेसे तेज है तथा फल, फेन, लकड़ी आदिको बहाये लिये चली जा रही है और जलसे पूर्ण भरी हुई है, उससे भिन्न वैसी ही दूसरी नदीके समान।

३. 'सामान्यतोदृष्ट' उसे कहते हैं जहाँ विना कार्यकारणभाववाले अविनाभावी विशेषणसे विशेष्यमाण धर्म जाना जाता है, जैसे—बगुलाओंकी पंक्तिसे सलिल (जल)। प्रयोग ऐसा होगा—सामनेके जिस प्रदेशमें बगुलाओंकी पंक्ति लगी हुई है वह जलवाला है, बगुलाओंकी पंक्तिवाला प्रदेश होनेसे, वर्तमान वैसे ही अन्य प्रदेशके समान।

सो यह सब प्रायः बालकके प्रलापके समान है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि, सब जगह साधनके साध्यके विना नहीं होनेको ही गमकत्व (साधकत्व) है, उससे रहित लिङ्ग त्रैरूप्य (पक्षधर्मत्व, सपक्षेसत्त्व और विपक्षाद् व्यावृत्ति) से युक्त भी हेतुको गमकता नहीं है, नहीं तो 'वह गर्भस्थ बालक काले रँगका है, अमुकका पुत्र होनेसे; दिखाई देनेवाले उसके अन्य पुत्रोंके समान,' इस अनुमानमें 'अमुकका पुत्र होनेसे' इत्यादि हेतुओंको भी, अविनाभावी हेतुके समान ही, गमकता का प्रसंग आ जायगा। कहोगे कि—हेतुका लक्षण त्रैलक्षण्य भी कोई ऐसी-वैसी चीज नहीं है, इसलिए यह प्रसंग नहीं आयेगा,—ऐसी बात नहीं है, व्याप्तिरूप सम्बन्धसे तो अन्यथानुपपत्तिका ही उद्दीपन होगा। अगर वह है, तो 'त्रैलक्षण्य' की अपेक्षासे भी क्या प्रयोजन? वहाँ गमक हो जायगा। देखो, जलचन्द्रसे नभश्चन्द्रका, कृत्तिकाके उदयसे शकटके उदयका, और आधे हुए एक आमके पेड़से शेष बौर आये हुए सम्पूर्ण आमके पेड़ोंका, चन्द्रके उदयसे कुमुदविकासका, [illegible] वृक्षसे छायाका, इत्यादि अन्य-अन्य साधनसे अन्य-अन्य साध्यका, पक्षधर्मत्व न रहनेपर भी, हम अनुमान करते हैं। कोई कहे कि—कालादिक धर्मी इन सब अनुमानोंमें है ही और इनमें [illegible] पक्षधर्मता देखी जाती है,—तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह अतिप्रसंग दोष आ जायगा। इस तरह तो शब्दके अनित्यत्व साध्य करनेपर 'काक की कृष्णता' आदि [illegible] भी गमक हो जायगा, क्योंकि वहाँ भी 'लोक' आदिके धर्मी होनेकी कल्पना की जा सकती है।

तथा 'अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्—शब्द अनित्य है, कानसे सुना जानेसे' यह 'कानसे सुना जाना' लिङ्ग (हेतु) अन्वयसे रहित है, फिर भी यह गमक है ऐसा [illegible]

है। इसलिए **अन्वय भी** हेतुका लक्षण नहीं बन सकता। इसका सम्यक्-हेतु-रूपसे समर्थन इस तरह हो सकता है। देखो—तुम्हारे मतसे ही सकल 'सत्त्व' अनित्यताके भीतर ही समा जाता है तब 'श्रावणत्व भी तो भाव (सत्) का धर्म है, अर्थात् सत्त्व है, तो फिर कैसे अनित्यताको छोड़कर वह नित्य होनेका साहस करेगा? क्योंकि जब अनित्यको छोड़कर कोई नित्य पदार्थ ही नहीं है तब नित्यत्व धर्म रहेगा किसमें? इसलिए उसको **निःस्वभावताकी प्राप्ति हो** जायगी। स्वभाववान् हो तब तो स्वभाव हो; जब स्वभाववान् ही नहीं है तब स्वभावराहितता हो जायगी। नित्यताका यही हाल है। इस कथनसे 'सात्मकं जीवच्छरीरं **प्राणादिमत्त्वात्**—जिन्दा शरीर आत्मा सहित है, **प्राणादिमान् होनेसे**' इस अनुमानमें भी यह 'प्राणादिमान् होना' **व्यतिरेक** हेतु गमक है, क्योंकि साध्यार्थान्यथानुपपन्नत्व–साध्यके विना नहीं होनापना यहाँ भी विद्यमान है। घटादिकमें जैसे, वैसे विना आत्माके पदार्थमें प्राणादि नहीं रहते हैं। पर पक्षधर्मत्व और अन्वय तो हेतुके लक्षण ही नहीं हो सकते हैं।

तथा 'तादात्म्य और तदुत्पत्ति संबंध कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि रूप जो तीन लिङ्ग हैं इन्हींमें रहता है, अन्यमें नहीं,' यह जो तीनों लिङ्गोंका नियम करते हो, वह भी अयुक्त है, क्योंकि इन दोनों सम्बन्धोंसे रहित जो **रूपादि** है, उसके रसादिका गमकपना देखा जाता है। यदि **वैशेषिक** यहाँ ऐसा माने कि—रूपादि रसादिका गमक तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे नहीं होता है तो न सही, **समवायसे हो** जायगा, किन्तु 'अन्यन्थानुपपन्नत्व' ही हेतुका लक्षण होता है यह हम किसी भी हालतमें स्वीकार करनेको तैयार नहीं हैं,—तो वह दूसरे प्रकारसे निरुत्तर किया जा सकता है। हम उससे विकल्प पूछते हैं कि—समवायिओंसे समवाय **अभिन्न** है कि **भिन्न** है? **यदि अभिन्न** है, तो वे (समवाय जिनमें है) समवायी ही रहे, समवाय नहीं रहा, क्योंकि समवाय उनसे अभिन्न है, ठीक उसी तरह जिस तरह वह अपने स्वरूपसे। यदि समवाय समवायिओंसे **भिन्न** है, तो वह समवायिओंमें **समस्तरूपसे** रहता है या **एक देश रूपसे**? अर्थात्, सभीमें रहता है या किसी एक-आधमें? यदि **समस्तरूपसे** रहता है, तो यह अयुक्त है, क्योंकि इस तरह **समवायके बहुत होनेका प्रसंग** आ जायगा, क्योंकि वह प्रत्येक समवायीमें रहेगा। यदि **एकदेशरूपसे**, अर्थात् कुछमें रहेगा, कुछमें नहीं, तो यह भी ठीक नहीं है, अंशसहित हो जानेके प्रसंगसे **समवायके निरवयवत्वकी** क्षति हो जायगी। अपने ही अंशमें रहता है ऐसा अगर मानोगे, तो भी अपने **सब अंशोंमें** या **कुछमें** रहता है, यह प्रश्न सामने आयेगा ही। वहाँ भी यदि **अपने सब अंशोंमें** रहता है तो **समवायके बहुत्वका प्रसंग** वैसा-का-वैसाही बना हुआ है। कुछ **अंशोंमें** रहता है, ऐसा माननेपर, अंशान्तरके प्रसंगसे **अनवस्था हो** जायगी। इसलिए, रूपादिमें रसादिका समवाय ही ठहराना मुश्किल हो जानेसे, उसके बलसे उसमें गमकताकी आशा नहीं रखनी चाहिये। इस कथनसे **संयोगीकी** भी गमकता खण्डित हो गई, क्योंकि जो दूषण समवायपक्षमें आते हैं वे ही उसमें आयेंगे। **विरोधी लिङ्गका** विरुद्धके अभावका गमकत्व अन्यथानुपपन्नत्वको ही सूचित करता है, क्योंकि अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमें गमकत्व बन नहीं सकता है।

इस तरहसे दूसरोंके द्वारा परिकल्पित और भी जो लिङ्गके लक्षण हैं और गमकताके कारण हैं वे अन्यथानुपपन्नत्वको नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि साध्यके विना उत्पन्न होने वाले हेतुकी गमकता ही नहीं है। इसलिए उन सबका इसी व्यापक लिङ्गके लक्षण (अन्यथानुपपन्नत्व) में अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। और इस लक्षणसे विपरीत लक्षणका निराकरण करना चाहिये, ऐसा निर्णय हुआ।

अनुमानकी अभ्रान्तताका निश्चय

इस विषयमें बौद्धकी मान्यता का खण्डन

इस प्रकार अनुमानका लक्षण प्रतिपादन किया। अब जो शौद्धोदनि (बुद्ध) के शिष्योंने कहा है उसका खण्डन करते हैं। उन्होंने कहा है कि-सामान्यका प्रतिभासी होनेसे अनुमान [illegible] है। और सामान्यका बाह्य स्वलक्षणसे कोई संबंध नहीं है, क्योंकि 'सामान्य बाह्य स्वलक्षणसे भिन्न है कि अभिन्न?' ऐसा प्रश्न करनेपर यदि कहा जाय कि वह भिन्न है, तो वैसे ही दोनोंका कोई संबंध नहीं रहा; और यदि अभिन्न है, तो वह बाह्य स्वलक्षण ही होगया, सामान्य नहीं रहा। इस तरह सामान्यका-जो अनुमानका विषय है—बाह्य स्वलक्षणसे कोई संबंध नहीं [illegible]। दोनोंमें परस्परमें कोई संबन्ध न रहनेपर भी केवल सामान्यरूपतासे अनुमानके द्वारा [illegible] अध्यवसाय होता है और यही भ्रान्ति है; क्योंकि भ्रान्तिका लक्षण है कि 'जो वैसा नहीं है उसमें वैसा ग्रहण होना'। यहाँ बाह्य स्वलक्षण सामान्यरूप नहीं है, लेकिन अनुमानसे उसमें [illegible] आता है, अतएव अनुमान भ्रान्त ही है। फिर प्रश्न यह होता है कि ऐसे भ्रान्त अनुमानको बौद्धोंने प्रमाण क्यों माना? इसका उत्तर वे यह देते हैं कि अनुमानको प्रामाण्य एक प्रणाली [illegible] बाह्य स्वलक्षणके बलसे आता है। वह प्रणाली यह है-विना अर्थके [illegible] सम्बन्धसे प्रतिबद्ध लिङ्गका सद्भाव नहीं हो सकता, विना लिङ्गके सद्भावके [illegible] हो सकता है, विना लिङ्गके ज्ञानके पहले निश्चय किये हुए सम्बन्ध (व्याप्ति) [illegible] हो सकता, और विना उसका स्मरण हुए अनुमान नहीं हो सकता। इस प्रणालीसे [illegible] जानेसे भ्रान्त भी अनुमानको बौद्ध प्रमाण मानते हैं। वैसा ही उनके [illegible] है—

"जो जैसा नहीं है उसमें वैसा ग्रहण करनेका नाम भ्रान्ति है. [illegible] सम्बन्धसे प्रमा हो जाती है।"

इस बौद्ध मान्यताको दूर करनेके लिये मूल ग्रन्थकार कहते हैं—" तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्" यहाँ 'वह अनुमान अभ्रान्त, अर्थात् ठीक [illegible] है,' यह [illegible] 'प्रमाण होनेसे, अर्थात् [illegible] यह हेतु है, 'समक्षवत्—प्रत्यक्ष की तरह,' यह दृष्टान्त है। इस तरह प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त [illegible] भ्रान्तता का निराकरण करनेवाले सम्पूर्ण [illegible] और निगमन—[illegible] अवयवोंके प्रतिपादनसे ही आ जाते हैं। [illegible]

सूचित किया है। इस अनुमानका प्रयोग ऐसा करना चाहिये:—अनुमान अभ्रान्त है, **प्रमाण होनेसे;** इस पृथ्वीपर जो-जो प्रमाण है वह-वह अभ्रान्त है, जैसे-**प्रत्यक्ष;** वैसा ही आप भी अनुमानको प्रमाण स्वीकार करते हैं; इसलिए, प्रमाण होनेसे, अभ्रान्त है। इस अनुमानमें **अर्थवादी—वैभाषिक, सौत्रान्तिक** जो कि बौद्धदर्शन के ही भेद हैं—' समक्ष ' दृष्टान्त में साध्य-(अभ्रान्तत्व)' विकलता नहीं दिखा सकते हैं, क्योंकि स्वयं उन्होंने ही प्रत्यक्षको अभ्रान्त माना है, जैसाकि अभी पीछे बताया था—" प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् [न्या० वि० ४] । " **शून्यवादी (माध्यमिक बौद्ध)** समस्तका अपलापी है, इसलिए वह तो प्रमाण–प्रमेयरूप व्यवहार करनेके भी अयोग्य है, अतः उसको लक्ष्य करके अपने साधन (प्रमाणत्वात्) के दोषोंका परिहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसकी **प्रतिज्ञा** (सर्वं शून्यं-सब शून्य है) स्ववचनसे बाधित है, इस कारण शून्यवाद का उत्थान ही नहीं हो सकता है। किस तरहसे उसकी प्रतिज्ञा स्ववचनबाधित है, वही दिखाते हैं—जिस वचनसे तुम कहते हो कि ' सब शून्य है, ' वह सर्व अभाव का प्रतिपादक वचन है कि नहीं; यदि है, तो सब शून्य नहीं हुआ, कमसे-कम जिस वचनसे तुम यह कहते हो कि ' सर्वं शून्यं-सब शून्य है, ' **वह वचन तो** शून्य नहीं है, अतः तुम्हारी **प्रतिज्ञा (सर्वं शून्यं) की हानि** हुई। यदि नहीं, तो सकल भावकी सिद्धि है, क्योंकि अब प्रतिषेधक तो कोई है नहीं ॥ ५ ॥

कारिकाः—न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात् ।
भ्रान्तं प्रमाणमित्येतद्विरुद्धं वचनं यतः ॥ ६ ॥

' दूसरोंके द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष भ्रान्त है ' ऐसा कहनेवाले ज्ञानाद्वैतवादी (योगाचार) बौद्धका निराकरण

ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार, जो कि बौद्धदर्शनका ही एक सम्प्रदाय है, सम्वेदनको वेद्य-वेदक आकारसे विकल, सकल विकल्पोंके विषयसे परे, अतएव निर्विकल्पक और पृथक् जो पारमार्थिक स्वसम्वेदन उससे जानने योग्य मानता है तथा उन समस्त ज्ञानोंको जिनमें ग्राह्य-ग्राहक आकार दीखता है, जो किसी बाह्य वस्तुका प्रकाशन करते हैं, विपर्यस्त–भ्रान्त समझता है और कहता है कि ऐसे ज्ञान **अनादिकालसे चली आ रही वासनाके बलसे** होते हैं। इसकी दृष्टिमें उपर्युक्त अनुमानमें जो प्रकृत दृष्टान्त ' प्रत्यक्ष ' है वह, भी भ्रान्त है, इसलिए यह, अपने अभिप्रायके अनुसार, **दृष्टान्त में साध्य-शून्यता** बतायेगा। अतः इसके मतके खण्डन (विकुट्टन) के लिये कहते हैं—

' **प्रमाणत्वका विनिश्चय होनेसे,** प्रत्यक्ष भ्रान्त नहीं है, क्योंकि, एक ओर, ' **भ्रान्त** ' कहना और " दूसरी ओर, ' **प्रमाण** ' कहना ये दोनों परस्पर विरोधी वचन हैं ॥ ६ ॥ "

उपर्युक्त कारिकामें, जैनके अनुसार, **भ्रान्तता** और **प्रमाणतामें** विरोध है, पर **ज्ञानाद्वैतवादी** बौद्ध दोनोंमें यह विरोध नहीं मानता। वह कहता है कि—' भ्रान्तता ' और ' प्रमाणता'में कोई विरोध नहीं है, देखो—अभिप्राय दो तरहके हुआ करते हैं—एक तो **व्यावहारिक** और दूसरा **तत्त्वचिन्तक** या **पारमार्थिक**। इनमेंसे व्यावहारिक अभिप्रायमें परमार्थ अविदित रहता है और तत्त्वचिन्तकमें विदित।

हमलोग—जो कि केवल शुद्ध (ग्राह्य-ग्राहक आकारसे रहित) एक ज्ञानको ही मानते हैं—लोककी सारी कल्पनाओंको इसी व्यावहारिक अभिप्रायसे घटाते हैं। हमारे मतसे प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही बहुत दृढ़ वासनाके प्रबोधसे ही होते हैं। ये व्यावहारिक अभिप्राय से ही दर्शित अर्थकी प्राप्ति करा देते हैं, अतः तल्लक्षणरूप 'अविसम्वादकत्व-विसम्वादका अभाव' उनमें है और इसके होनेसे ही हम उनमें प्रमाणता मानते हैं। और जब ये दोनों शिथिल वासनाके आभिमुख्यसे होते हैं, तब ये व्यावहारिक अभिप्रायसे ही. दर्शित अर्थको प्राप्त नहीं कराते हैं, अतः तल्लक्षणक 'अविसंवादित्व' उस समय उनमें नहीं रहता और उसके न होनेसे ही हम उनमें अप्रमाणता कहते हैं। और इनमें जो हम भ्रान्तता कहते हैं वह तत्त्वचिन्तक अभिप्राय या दृष्टिसे कहते हैं, क्योंकि जितने बाह्य पदार्थोंको प्रतिभासित करनेवाले ज्ञान हैं वे सब नाशशील (उपप्लवमान) और ग्राह्य-ग्राहक आकारके कालुष्यसे दूषित हैं और इसी कारण पारमार्थिक अद्वयसंवेदनसे विपर्यस्त (विपरीत) हैं। उनके बाह्य-अर्थका विचार करनेपर तत्त्वदृष्टिसे वह (अर्थ) ठहरता नहीं है, अतः वे किसी कामके नहीं हैं। बाह्य अर्थकी सिद्धि कैसे नहीं होती है, वही अब बताते हैं।

बाह्य अर्थके निराकरणमें बौद्ध का पूर्वपक्ष

अर्थ या तो अवयवीरूप होगा या अवयवरूप, इनके सिवा उसकी तीसरी गति नहीं है। इनमेंसे (१) अवयवीरूप तो विचार करनेपर ठहरता नहीं है, क्योंकि अवयवके बिना अवयवी [illegible] नहीं सकता है। दूसरे, अवयवोंमें अवयवी रहता है, यह विकल्प (विचार) भी ठीक नहीं [illegible]। कैसे ? वही कहते हैं—कुछ-एक अवयवोंमें अवयवी रहेगा, या सभी में ? कुछ-एकमें तो रह नहीं सकता है, क्योंकि वह स्वयं अवयवरहित (निरवयव) है। अवयवोंमें रहनेके निमित्तसे अगर अंशान्तरोंकी कल्पना करें, तो अंशान्तरोंमें रहने के लिये भी अन्य अंशान्तरोंकी कल्पना करनी पड़ेगी, और तब अनवस्था हो जायगी। सभीमें भी नहीं रह सकता है, क्योंकि प्रत्येक अवयवमें पूरा-पूरा रहनेसे बहुत-से अवयवी होजायेंगे, एक अवयवी नहीं रहेगा। 'अवयव और अवयवीको जब बिलकुल भिन्न मानें तभी यह दोष होता है, अभेदपक्षमें यह दोष नहीं आयेगा'—ऐसा यदि आप कहें तो भी ठीक नहीं है। [illegible] अवयवीको अभिन्न माननेपर भी या तो अवयवमात्र रहेगा, या अवयवीमात्र, क्योंकि [illegible] स्वरूपके समान, एक-दूसरेसे अभिन्न हैं। दूसरी बात यह है कि अगर अवयवीको [illegible] मानें, तो पटादिके कुछ अंशमें राग (लाल रंग) का दर्शन (दीखना) [illegible] दीखना आदि होनेपर उसके संपूर्ण अंशमें रंग. कम्प का दीखना आदि [illegible] हो जायेंगे, क्योंकि जो एक है उसके लाल रंग और लाल रंगसे रहितपना आदि [illegible] नहीं [illegible]।

(२) और न अवयवरूप ही अर्थ विचारपथमें आता है, क्योंकि [illegible] गर्दन आदि अवयव शरीरकी अपेक्षासे हैं, परन्तु अपने-अपने अवयवोंकी अपेक्षासे [illegible] हो जायेंगे, तब जो दूषण पहले अवयवी पक्षमें दे आये हैं वह यहाँ भी आ जायगा। अगर कहें कि [illegible] परमाणुमें कोई अंश नहीं रहता है, इसलिये उसको हम [illegible] [illegible] बनती है, क्योंकि परमाणु भी छः दिशाओंके संबंधसे छह अंशवाला [illegible] है। [illegible]

दिशाओं—ऊपर, नीचे, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—का संबंध नहीं है, तो फिर वे रहेंगे कहाँ ? बिना दिशाओंके संबंधके वे रह नहीं सकते हैं।

इसलिए अर्थकी सिद्धि न होनेसे तदुन्मुख ग्राह्याकार अलीक (मिथ्या) है, ग्राह्याकारके अलीक होनेपर ग्राहकाकार भी नहीं ठहरता, क्योंकि जब ग्राह्य ही नहीं तो ग्राहक किसका ? ग्राह्य की अपेक्षासे ही ग्राहकका स्वरूप बनता है, जब ग्राह्य और ग्राहक आकार कुछभी नहीं रहता है तो केवल ज्ञानका आकार रह जाता है, और वह सर्वत्र अव्यभिचरित (निर्दोष) रूप है, इसलिए वही पारमार्थिक है।

इसका खण्डन

बौद्धके उपर्युक्त पूर्वपक्षका अब खण्डन करते हैं—बौद्धने जो यह कहा था कि अद्वयसम्वेदन पारमार्थिक है और ग्राह्यग्राहकाकारसे प्रवृत्त संवेदन अतात्त्विक है, वह अयुक्त है, **क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है**। वही दिखाते हैं:—बाहर और भीतर दोनों ओर संवेदन अनेकाकार रूपसे परिणत होता हुआ दीखता है। बाहरमें स्थिर, स्थूलता आदि अनेक धर्मोंसे युक्त अर्थको ग्रहण करता है, अन्तरंगमें हर्ष, विषाद आदि परिणाम होते हैं। लेकिन वेद्य-वेदक आकारसे रहित जैसे ज्ञानका वर्णन आप करते हैं, वैसा किसीके कभी भी देखनेमें नहीं आता, क्योंकि अद्वय प्रतिभासकी स्वप्नदशामें भी अनुभूति नहीं होती है, और न ऐसे तत्त्वचिन्तकोंकी जो बिना प्रमाणके ही अपने मन्तव्यकी स्थापना करते हैं, बुद्धिमानोंके आगे कुछ पूछ ही होती है, नहीं तो 'ब्रह्म (तत्त्वकारूप) **एक, अचेतन** और **अन्वय है**, लेकिन अविद्या-अज्ञानसे वह **अनेक, चेतन** और **क्षणभङ्गुरतासे आक्रान्त** माल्म पड़ता है,' ऐसा कहनेवालेकी भी बात सुननी पड़ेगी। और जो बहिरर्थके निराकरणके खयालसे **अवयवी-अवयवके विकल्पद्वारा दूषण** दिया था, वह भी बाहर और भीतर एक-से प्रसिद्ध, सकल प्राणियोंको प्रतीत **ऐसे प्रतिभासरूपी मुद्गरसे** निर्दलितशरीर होनेसे भोजनमें थूक देखनेवालेके सामने 'ठगनेमें चतुर कुट्टिनीकी सौगन्दके समान' प्रायः है,[१] इस कारण उससे विद्वज्जनोंके मनका रञ्जन नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्षप्रतिभासका अपह्नव (लोप) करनेपर तन्मूलक (प्रत्यक्ष-प्रतिभासमूलक) कुयुक्तियोंके विकल्प उठ नहीं सकते है। इस सम्बन्धमें, दूसरी बात यह है कि इसतरह का दूषण तो तुम्हारे 'एक ही संवेदन सित, असित आदि अनेक आकारोंमें रहता है,' ऐसा माननेपर भी आयेगा। वहाँ भी एक संवेदन सित-असित आदि आकारोंसे **भिन्न है** कि **अभिन्न है!** अगर **भिन्न है** तो उस संवेदनकी वृत्ति उनमें **समस्त रूपसे** है कि **एकदेश रूपसे**? इत्यादि चोद्य (तर्क) आयेंगे ही। इसलिए यह कोई दूषण नहीं है। 'अनेकाकारका विवर्त (पर्याय) मिथ्या होनेसे उसके साथ पारमार्थिक संवेदनका भेद या अभेदका विचार बन नहीं सकता,'—ऐसा अगर आप कहें तो

---

१ भक्तमध्यनिष्ठ्यूतदर्शिनःपुरतो विप्रतारणप्रवणकुट्टिनीशपथप्रायम्—यदि कुट्टिनी यह ही कहती चली जाय कि भोजनके चबाते समय उसमें थूक या लार नहीं होती और इसके लिये शपथ भी खाये, तो सामने जो भोजनके चबाते समय थूक या लार देख रहा है वह उसके ऐसे वचनोंसे ठगाया नहीं जासकता है। ऐसा ही प्रकृतमें बौद्धद्वारा बहिरर्थके निराकरणमें समझना।

यह तो दुरुत्तर **इतरेतराश्रय** हो गया। वह इसतरह—अनेकाकारके विवर्तके अलीकत्वकी सिद्धि होनेपर **अद्वयसम्वेदनकी सिद्धि** हो, और उसकी सिद्धि जब हो, तब **अनेकाकारके विवर्तके अलीकत्वकी सिद्धि** हो। तुम्हारे लिये इस सम्बन्धकी, एक और भी दूसरी बात कहते हैं। एक क्षणमें रहनेवाला एक (अद्वय) भी सम्वेदन जैसे पूर्वोत्तर क्षणोंसे सम्बन्ध रखता है, वैसे ही निरंश भी परमाणु यदि दिशाओंके अंशोंसे या दूसरे परमाणुओंसे सम्बन्ध रक्खें, तो क्या अयुक्त होगा। और दूसरी बात यह है कि अवयवी-अवयवके एकान्त (सर्वथा) व्यतिरेक या अव्यतिरेकके पक्षमें जो दूषण आता था वह हमारे पक्षमें नहीं आयेगा, क्योंकि हम उन्हें **परस्परमें संयुक्त** और **विवक्षासे भेदयुक्त** भी मानते हैं, क्योंकि बाह्य और भीतर वैसे ही वे दिखते हैं, अतः उनका (अवयव और अवयवीका) लोप नहीं हो सकता है। इस कथनसे राग–अराग (लाल वर्ण–लाल वर्णसे रहित), कम्प–अकम्प आदि विरोधका उद्भावन भी खण्डित हो गया, क्योंकि **प्रमाणप्रसिद्ध अर्थमें कोई विरोध नहीं** आता है, प्रमाणसे बाहिरमें ही विरुद्धपना आता है। अन्य कुयुक्तियोंके विचार, प्रत्यक्षके अभावमें, निर्मूल होनेसे खड़ा नहीं हो सकते हैं, क्योंकि **प्रत्यक्षके लोपसे कुयुक्तिविकल्पोंके दलित हो जानेसे** उनका उत्थान ही नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष जब नहीं रहा, तो उन कुयुक्तियोंका कहीं भी किसीको भी दर्शन नहीं होगा, जब दर्शन नहीं होगा तो वे प्रकाशमें कैसे आयेंगी। दूसरे, पदार्थमें जितने धर्म हैं, उन सबका अस्तित्व भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियोंके निमित्तसे होता है। **प्रवृत्ति या अपेक्षाकी दृष्टिसे** यदि विरोधी मालूम पड़नेवाले धर्मोंकी तरफ़ दृष्टिपात करो, तो उनमें कोई भी विरोध नहीं मालूम पड़ेगा। इसलिए धर्मोंके विपर्ययसे मालूम पड़नेवाला विरोध दूरसे ही हट गया। दूसरे, तुम स्वयं ही तो सम्वेदनको **परमार्थकी अपेक्षासे** प्रत्यक्ष, अविकल्पक और अभ्रान्त आदिरूप तथा संव्यवहारकी अपेक्षासे अप्रत्यक्ष, सविकल्पक और भ्रान्तादिरूप स्वीकार करते हो, किन्तु बहिरर्थमें [illegible] प्रतिषेध करते हो, इससे केवल तुम्हारी मूर्खता ही सूचित होती है। इसलिए प्रमाण किसी भी तरह भ्रान्त नहीं है, अगर हो तो अपने रूपसे ही भ्रष्ट हो जायगा, प्रमाण प्रमाण नहीं रहेगा, अप्रमाण हो जायगा, ऐसा सिद्धान्त स्थिर हुआ।

इसपर शायद बौद्ध कहे कि—'ज्ञान **स्वरूपसे** भ्रान्त नहीं है, किन्तु उसके द्वारा दिखाये **गये अर्थके अलीक होनेसे** उसमें भ्रान्तता मानली जाती है, क्योंकि हम देखते हैं कि ज्ञानोदयके समय किसीको भी 'यह अलीकार्थ है और यह अनलीकार्थ है' ऐसा पृथक् रूपसे निश्चय नहीं होता है; चाहे भ्रान्तज्ञान हो या अभ्रान्त, दोनोंमें ज्ञान एकरूपसे प्रकाशित होता है। और [illegible] मिथ्या चन्द्रद्वय भी स्पष्ट प्रत्यक्षज्ञानमें दीखते हैं, तब सभी सच्चे जानेवाले विषयोंमें भी मिथ्यापन (अलीकार्थता) की आशंकाकी निवृत्ति न होनेसे उनमें विश्वास नहीं जमता है। और न 'हमारा ज्ञान ठीक है कि नहीं?' इस आशंकाके निराकरणके लिए जलादि पदार्थोंकी प्राप्ति या पान या अवगाहनादि कार्यकी कल्पना करनी चाहिये, क्योंकि स्वप्नावस्थामें जलादि पदार्थोंकी प्राप्ति आदि कार्य (अर्थक्रिया) देखे जानेपर भी अलीकार्थता बनी ही रहती है। इसलिए, बाधक **ज्ञानके उदय हो जानेसे** ज्ञानको अलीकार्थता होती है।'—तो बौद्धका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जब ऐसी बात है कि ज्ञान अपने ही विषयको जानेगा, अविषयको नहीं, तो तुममें बाधक ज्ञान

हो नहीं सकता है। अगर अपना विषय जानने पर भी एक ज्ञानका दूसरा ज्ञान बाधक हो सकता है तो जो देवदत्त पहले, अपने ज्ञानसे पीतको जान रहा था वही जब बादमें नीलको जानेगा तो पूर्व ज्ञानका उत्तरज्ञान बाधक हो जायगा। **बाधकके अभावकी सिद्धि होनेसे ही,** अर्थात् ज्ञानमें जब कोई दूसरा ज्ञान बाधक नहीं होता है तभी, सभी ज्ञान, ज्ञानरूपसे समान होते हैं, अर्थात् सभी प्रमाण हैं। इसलिए कौन ज्ञान भ्रान्त है और कौन अभ्रान्त, इस विषयकी अभी आपको भ्रान्ति है, क्योंकि दोनोंके विवेक (पार्थक्य) को न जाननेसे आप सभीको अलीकार्थ समझ रहे हैं ॥ ६ ॥

कारिका ७—सकलप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वासिद्धितः स्फुटम्।
प्रमाणं स्वान्यनिश्चायि, द्वयसिद्धौ प्रसिद्ध्यति ॥ ७ ॥

१. सकल ज्ञानोंके भ्रान्तत्वकी असिद्धि।

२. ' स्वपरव्यवसायी ज्ञान ही प्रमाण होता है, ' ऐसा निगमन

३. ' प्रमाण ' स्वीकार करनेवालेको ' अर्थ ' भी स्वीकार करना चाहिये ऐसा समर्थन।

उपर्युक्त तीन बातें—इस कारिकामें कहते हैं—

समस्त ज्ञानोंके भ्रान्त न सिद्ध होनेसे, साफ़-साफ़, जो स्व और अन्यका निश्चायी है वह प्रमाण है। और वह प्रमाण **स्वरूप** (ज्ञान) और **अर्थ,** दोनोंके ही सिद्ध होनेपर होता है ॥ ७ ॥

१. सकल ज्ञानोंके अभ्रान्तत्वकी सिद्धि इस तरह होगी—जो भी **योगाचारादि** समस्त ज्ञानकी भ्रान्तताकी प्रतिज्ञा करता है, उसे भी तत्साधक (समस्त सम्वेदनकी भ्रान्तताके साधक) 'निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत् '–' जितने ज्ञान हैं वे सब निरालम्बन हैं, उनका 'अर्थ' नामका कोई आलम्बन नहीं है, प्रत्यय (ज्ञान) होनेसे, स्वप्नज्ञानके समान ' इस **अनुमानरूप** ज्ञानको तो कम-से-कम **अभ्रान्त** मानना चाहिये। उसे भ्रान्त माननेसे तत्प्रतिपादित जितना पदार्थ है वह झूठा हो जायगा, तब सकल ज्ञान **अभ्रान्त** हो जायँगे। अगर ये ज्ञान अभ्रान्त नहीं होंगे, तो तत्साधक अनुमान भ्रान्त नहीं होगा। निष्कर्ष यह निकला कि **योगाचारको**—जो कि समस्त ज्ञानोंको भ्रान्त मानता है—**इन दो बातोंमेंसे** कोई एक स्वीकार करनी पड़ेगी, या तो, यदि वह समस्त सम्वेदनको 'भ्रान्त' मानना चाहता है, तो **उस समस्त सम्वेदनकी भ्रान्तताके साधक अनुमानको अभ्रान्त मानना पड़ेगा,** क्योंकि **उसे** अभ्रान्त माने विना **स मस्त सम्वेदन** भ्रान्त नहीं हो सकते, और यदि समस्त सम्वेदनकी भ्रान्तताके साधक अनुमानको भी भ्रान्त ही मानना चाहता है, तो उसे **उससे 'भिन्न' सकल ज्ञानोंको अभ्रान्त मानना पड़ेगा,** क्योंकि इनको अभ्रान्त माने विना तत्साधक अनुमानज्ञानको भ्रान्तता नहीं बन सकेगी। संक्षेपमें एक ओर तो **समस्त सम्वेदनकी भ्रान्तता** और **तत्साधक अनुमानकी अभ्रान्तता,** तथा दूसरी ओर **तत्साधक अनुमानकी भ्रान्तता** और **सकल ज्ञानोंकी अभ्रान्तता,** इन दोनोंमेंसे कोई एक रास्ता योगाचारको चुनना पड़ेगा। दोनों ही रास्तोंमें **प्रतिज्ञाहानि दोष** है। प्रतिज्ञा यह थी कि

'समस्त सम्वेदन भ्रान्त है,' सो कम-से-कम, पहले रास्तेके चुननेमें एक—तत्साधक अनुमान—तो ऐसा निकला जो कि भ्रान्त नहीं है। दूसरे रास्तेके चुननेमें 'एक भ्रान्त और शेष अभ्रान्त' निकलनेसे वहाँ भी **प्रतिज्ञाहानि या साध्यासिद्धिका अभाव** होता है। दोनोंमें फ़र्क इतना ही है कि एकमें—पहले मार्गमें—**कम** प्रतिज्ञाहानि होती है और दूसरेमें **ज्यादा**। लेकिन कम हो या ज्यादा, सिद्धान्तका तो व्याघात हुआ ही, तथापि यदि आप कम प्रतिज्ञाहानिवाला मार्ग चुनें, तो हम उसमें भी ऐसा कह सकेंगे कि जब एक ज्ञान (समस्त सम्वेदनकी भ्रान्तताका साधक अनुमान-ज्ञान) अभ्रान्त निकला तो उन ज्ञानोंके दूसरे भी ज्ञान अभ्रान्त निकलेंगे, तब समस्त सम्वेदनको भ्रान्तत्व सिद्ध नहीं हुआ, जैसा कि आपने शुरूमें कहा था।

२. जब यह सिद्धान्त स्थिर हो गया कि कोई भी ज्ञान भ्रान्त नहीं है तो जो ज्ञान अवश्य ही (सुनिश्चित रूपसे) स्वपरका प्रकाशक है वह **प्रमाण** है।

३. जब अभ्रान्त ज्ञानको 'प्रमाण' माना और प्रमाण स्व और **पर** दोनोंका प्रकाशक—जाननेवाला होता है, तब **स्वरूप** (ज्ञान) और **अर्थ** दोनोंके होनेपर ही 'प्रमाण' हो सकता है। इसलिए केवल (अद्वय) ज्ञान नहीं रहा, साथमें **अर्थको** भी मानना पड़ेगा। यदि अर्थ—प्रमेयको नहीं मानेंगे तो प्रमाणका भी अभाव हो जायगा। इसलिए जब **प्रमाण** मानते ही हो तो **अर्थ** भी मानना चाहिये, ऐसा हमारा अभिप्राय है ॥ ७ ॥

कारिका ८—दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाभिधायिनः।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥

शाब्दप्रमाणका लक्षण कथन

इस प्रकार स्वार्थानुमान-लक्षणका प्रतिपादन करके और उसको प्रमाण माननेवालोंमें जो भ्रान्तताकी विप्रतिपत्ति है, उसका निराकरण करके अब यद्यपि परार्थानुमानका लक्षण प्रतिपादनीय है, उसीके प्रकरणमें **शाब्दके लक्षणमें** कुछ ज्यादा कथन न होनेसे पहले उसीका लक्षण कहते हैं—

"प्रमाणसे निश्चित अर्थसे अबाधित, परम (विशिष्ट) अर्थके कहने या दिखानेवाले वाक्यसे तत्त्वग्राही रूपसे जो प्रमाण उत्पन्न हुआ है उसे 'शाब्द' कहा गया है ॥ ८ ॥"

यहाँ भी 'शाब्द' लक्ष्य है अनूद्य होनेसे, और 'दृष्टेष्टाव्याहताद् वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं' लक्षण है, विधेय होनेसे। परमका अर्थ होता है उत्कृष्ट, लेकिन यह उत्कृष्ट अर्थ भी 'पुरुषोपयोगी और शक्यानुष्ठान (जिसको कर सकें ऐसी योग्यतावाला)' होना चाहिये। जो पुरुषके उपयोगी नहीं है ऐसे सबके शरीरके उद्वर्तन आदि (उबटन लगाना आदि) परम अर्थ नहीं हैं। इसी तरह जिसका करना सम्भव नहीं है वह भी परम अर्थ नहीं है। [illegible] (सिर) में एक रत्न होता है, उसका यह प्रभाव होता है कि [illegible] अब कोई किसीको उपदेश दे कि तुम अपने शरीरको इस सर्पकी मणिसे छुआओ, तो वह [illegible]

मणिको प्राप्त करेगा ? यह किसी मनुष्यके लिए, साधारण रूपसे अप्राप्य है। क्वचित् भाग्यवश, सर्पके स्वयं मरनेपर, किसीको मिल जाय तो दूसरी बात है, नहीं तो सर्पके जिन्दा रहते हुए उसको मारकर उसे उसके शिरमेंसे निकालनेका प्रयत्न करना अपनेको ही मौतके मुँहमें डालना है। इसलिए यह काम पुरुषके उपयोगी तो है, लेकिन **अशक्यानुष्ठान** है, इसका करना कोई सरल बात नहीं है। अथवा,'पुरुषोपयोगी **या** शक्यानुष्ठान' अर्थ **अकृत्रिम** होता है। तब इन दोनों विशेषणोंमें एकके अभाव होनेसे दूसरेका अभाव स्वयं ही हो जाता है। जैसे तक्षक-मणिका अलंकारके लिये लाना 'अशक्यानुष्ठान' है तो वह वास्तवमें इसीलिए ही, **पुरुषके अनुपयोगी** भी है। इसी तरह, जो पुरुष के लिये अनुपयोगी है, जैसे मृतकके उबटन वग़ैर: लगाना, आदि वास्तवमें उसका करना पुरुष-धर्म जाननेवालेके लिये **अशक्य** भी है। इस तरह इनमेंसे **कोई एक** लेना चाहिये, क्योंकि एकके अभावसे दूसरेका अभाव स्वयं आ जाता है।

इनमेंसे 'प्रमाणसे निश्चित अर्थसे अबाधित' इस विशेषणसे कुतीर्थिकोंके वचन और लौकिक विप्रतारकोंके वचन **शाब्दप्रमाण** नहीं होते हैं इस बातका निराकरण किया है, क्योंकि वे प्रमाणसे बाधित हैं। 'वाक्यसे' इस विशेषणसे वाक्यको ही नियत अर्थका दर्शकत्व होनेसे परमार्थाभिधायिता है, ऐसा दिखाते हुए पद (शब्द) मात्रसे शाब्दज्ञान नहीं होता है, ऐसा दिखाया है। शाब्दज्ञानके लिये वाक्यकी ज़रूरत है। प्रवृत्तिके नियत विषयका व्यवस्थापक **प्रमाण** हुआ करता है। पद (शब्द)से जो पदके अर्थका ज्ञान होगा वह नियत विषयका खयाल नहीं कराता है। 'घट' शब्द घटसामान्यको तो कहेगा, परन्तु किसी स्थानविशिष्ट घटको नहीं कहेगा, तब घटार्थी कहाँसे जाकरके घट लावे ? इसलिए पदसे उत्पन्न ज्ञान **शाब्दप्रमाण** नहीं है, **वाक्यसे** ही उत्पन्न ज्ञान शाब्दप्रमाण है। 'परम अर्थको दिखाने वाले' ऐसा कहकर 'तक्षक (सर्पविशेष)के माथेके ज्वरको हरण करनेवाले रत्नसे अलङ्कार करो' ऐसे उपदेश आदिके शब्दोंसे उत्पन्न ज्ञान निष्फल हुआ देखा जानेसे उसकी प्रमाणताका निराकरण किया है। यह कहनेका प्रयोजन यह है कि वाक्य **पुरुषके उपयोगी बातका हो**, या **जिसको कर सकें** ऐसी बातका बतानेवाला हो तभी वह शाब्दप्रमाण हो सकेगा; नहीं तो नहीं। 'तत्त्वकी ग्राहिता-रूपसे उत्पन्न' ऐसा कहनेसे पूर्वोक्त विशेषणोंसे विशिष्ट भी वाक्यसे यदि श्रोताके अपने दोषसे विपरीत आदि अर्थका ग्रहण होता हो तो वह शाब्दज्ञान नहीं है, ऐसा बताया है। 'मान या प्रमाण' ऐसा कहनेसे जो शाब्दज्ञानको प्रमाण नहीं मानते हैं उनका तिरस्कार किया है। **उसको अप्रमाण माननेपर परार्थानुमान भी नहीं रहेगा,** क्योंकि वह भी वचनरूप है। यहाँ यदि बौद्ध ऐसा कहे—तीन रूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षेसत्त्व, विपक्षाद्व्यावृत्ति) वाले हेतुका सूचन करनेसे उपचारसे (गौणरूपसे) **वचन** को प्रामाण्य है, वास्तवमें नहीं है,—तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि 'अप्रमाण' किसीका सूचक नहीं हुआ करता है। यहाँ शंकाकार फिर कहता है कि–**वचन** हेतुका प्रतिपादन करता है और **वचन** यदि 'प्रमाण' है, तब फिर क्या हेतुसमर्थक प्रमाणान्तर (अनुमान) की प्रतीक्षा करना व्यर्थ नहीं हो जायगा ? क्योंकि उस हालतमें शब्दसे ही हेतुका निर्णय हो जायगा, और जो एक प्रमाणसे सिद्ध है उसमें प्रमाणान्तर व्यर्थ ही होगा—ऐसी बात नहीं है। यदि एक प्रमाणके विषयमें दूसरे प्रमाणकी प्रवृत्ति माननेसे, पहले प्रमाणको अप्रमाण कहोगे, तो आप (बौद्धों) के द्वारा परिकल्पित अध्यक्षके

अप्रामाण्यका प्रसंग आ जायगा, क्योंकि तद्दर्शित अर्थमें विकल्पकी अपेक्षा होनेसे विकल्पको ही प्रामाण्य हो जायगा । अगर कहोगे—कि प्रत्यक्षगृहीत ही अर्थको यह (विकल्प) शब्दयुक्त करता है, तो हम भी कहेंगे कि शब्दप्रतिपादित हेतुको ही प्रमाणान्तर समर्थन करता है । इस तरह यह बात तो दोनोंमें समान है ॥ ८ ॥

शाब्द प्रमाण दो प्रकारका है—१. लौकिक और २. शास्त्रज । वर्तमान शाब्दका लक्षण दोनोंमें ही समान है । लौकिक शाब्दज्ञान किसी अविप्रतारक (न ठगनेवाले) के वचनसे उत्पन्न हुआ होना चाहिये, ऐसा इस ग्रन्थमें आदिवाक्यके प्रस्तावमें ही समर्थन किया था. लेकिन शास्त्रज शाब्द-ज्ञानका भी तो समर्थन करना चाहिये । इसलिए कैसे शास्त्रसे उत्पन्न होनेसे वह शाब्दज्ञान प्रमाण होता है, उस शास्त्रको दिखाते हैं—

कारिका ९—आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९ ॥

शास्त्रजन्य शाब्दप्रमाणका लक्षण—

'जो आप्तके द्वारा आदिमें जाना हुआ हो, किसीके भी द्वारा जिसका खण्डन न हो सके, किसी भी प्रमाणसे जिसमें बाधा नहीं आती हो ऐसे अर्थका कहनेवाला हो, जीवादि [illegible] पका प्रकाशित करनेवाला हो, सबके लिये जो हितकारी हो और जिसने मिथ्यामार्ग [illegible] निवारण करनेवाला हो, तो उसे शास्त्र कहते हैं ॥ ९ ॥'

भावोद्घाटन—जो जीव-अजीव आदि तत्त्वोंकी शिक्षा देता है, [illegible] अथवा जिससे जीव-अजीव आदि तत्त्व जाने जाते हैं, वह शास्त्र है । इस शास्त्रमें छः बातें [illegible] चाहिये । वे छः बातें क्रमसे ये हैं:—

१ ली, शास्त्र वही हो सकता है जिसे मूलमें ऐसे पुरुषने कहा है जिसके राग आदि दोषगण प्रक्षीण (बिलकुल नष्ट) होगये हैं । [illegible] लोग कहते हैं कि शास्त्रको पुरुषके द्वारा कहाहुआ नहीं होना चाहिये, परन्तु यह सिद्धान्त प्रमाणसे [illegible] जब पुरुष ही नहीं होगा तो वचन भी नहीं होंगे । वचनकी उत्पत्ति तो पुरुषसे ही होती है । [illegible] हों और वे किसी पुरुष (संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय चेतन प्राणी) के न हों, ऐसा तो [illegible] अगर थोड़ी देरको मान भी लिया जावे कि बिना पुरुषव्यापारके भी वचन होते हैं, [illegible] अर्थका कुछ पता नहीं चलेगा, इसलिए उनके अर्थका निश्चय करनेके लिए पुनः पुरुषका [illegible] लेना पड़ेगा, जिसका अर्थ होगा गजस्नान न्यायका प्रसंग । [illegible] (हाथी [illegible]) पुनः धूलिसे अपनेको मलिन कर लेता है, उसी तरह तुम भी [illegible] उत्पन्न वेदोंकी कल्पनाका निराकरण, उन्हें अपौरुषेय स्वीकार करके भी, [illegible] बतलाने) के लिये फिरसे वैसे ही पुरुषके स्वीकार करनेसे [illegible] तो रागादिसे कलुषित होता है, इसलिए वह [illegible] ([illegible]) [illegible]

बातसे बचनेके लिये तुमने पहले ही वेदको **अपौरुषेय** माना, उससे तुम फिर भी न बच सके, अर्थात् वेदमें रागद्वेषयुक्तता न आये या न रहे, इसके वास्ते तुमने (मीमांसकने) पहलेसे ही उसे **पुरुषद्वारा निर्मित नहीं माना,** परन्तु बादमें जब उसके अर्थके व्याख्यान करनेका प्रसंग आया, तब तो फिर वही पुरुषका ही आश्रयण तुम्हें करना पड़ा, क्योंकि **पुरुषके सिवाय उसके अर्थको समझानेवाला और कौन हो सकता है?** लेकिन पुरुष तो ठहरा रागद्वेषका पुतला? वह यदि कषाय या अज्ञानवश वितथार्थ (मिथ्यार्थ) का भी व्याख्यान करे तो उसे रोकनेवाला कौन है? इसलिए आप पुरुषनिर्मित अप्रमाणतासे एकवार बचकर भी **पुरुषव्याख्यात अप्रमाणताके दोषसे** कैसे बच सकते हैं? अगर कहो,—व्याख्याताके व्याख्यानरूप व्यापारसे भी **परलोकादि अदृष्ट अर्थमें प्रवृत्तिरूप** कार्य सिद्ध हो जाता है—तो वेदके प्रणयनके लिये भी पुरुषको क्यों नहीं चाहते हो, क्योंकि दोनोंमें कोई विशेषता तो है नहीं। जैसे पुरुषके व्याख्यानरूप कार्यके होनेपर भी तुम्हारी परलोकादि अदृष्ट अर्थमें प्रवृत्ति बनी रही, वैसे ही वेदको यदि पुरुष द्वारा निर्मित मान लिया जाय, तो तुम्हारी क्या हानि होगी? परलोकादि अदृष्ट अर्थमें प्रवृत्ति तो तब भी बनी रह सकती है। **इसलिये क्षीणदोषके वचनके सिवाय अन्य किसी व्यक्तिसे प्रेक्षावान् लोगोंकी परलोकादि अदृष्ट अर्थमें प्रवृत्ति ठीक नहीं** है। अतः 'आप्तके द्वारा कहा हुआ' ही शास्त्र है, क्योंकि निरुपचरित (वास्तविक) शब्द और उसके अर्थकी उपपत्ति उसीसे हो सकती है।

२. दूसरा गुण जो शास्त्रमें होना चाहिये वह यह है कि—चूँकि शास्त्र सर्वज्ञकी वाणी है, अतः **किसी भी अल्पज्ञानीके द्वारा उसकी किसी भी बातका खण्डन नहीं होना चाहिये।** सर्व वचनोंको ऐसा शास्त्र अतिशयित करता है। और फलतः

३. तीसरा गुण—**अदृष्टेष्टविरोधक**—अपने-आप अवतरित हो जाता है। **'दृष्ट' (प्रत्यक्ष) प्रमाणसे निर्णीत किसी बातसे हमारी 'इष्ट' (अनुमान) शास्त्रोक्त बातका विरोध जिसमें नहीं है,** ऐसा वह शास्त्र है। अथवा, प्रमाणसे दृष्ट और वचनान्तरसे इष्ट, इन दोनोंका विरोधक शास्त्र नहीं होता।

ये तीन गुण तो बिना किसी दूसरेकी अपेक्षाके स्वयं शास्त्रमें होते हैं, इसलिए इनको शास्त्रकी स्वार्थसम्पत् कहा है। अगले तीन गुण दूसरोंके लिए, अतएव, दूसरेकी अपेक्षासे होते हैं, इसलिये इन्हें शास्त्रकी परार्थसम्पत् कहते हैं।

४. चौथा गुण—**तत्त्वका उपदेश करनेवाला** है। जीवादि पदार्थ तत्त्व हैं। वे प्रमाणसे प्रतिष्ठित हैं। उनके स्वरूपका प्रकाशन होना या उन तत्त्वोंके रक्षणादिका विधान करना यह उनका उपदेश कहा जाता है। अतएव

५. पाँचवाँ गुण, इसमें **सर्वहितकारी विश्वजनीन वृत्ति** है, क्योंकि यह प्राणियोंके रक्षणके उपायका उपदेश तथा, परम्परासे, परमपद-मोक्षका देनेवाला है।

६. छट्ठा गुण, **'तीर्थान्तरों-कुमार्गोंका निराकरण करनेवाला'** है। कुमत सर्वजनोंका अपकारी है, शास्त्र उसका विध्वंसक है। इस गुणसे यह दूसरोंके अनर्थ (नुकसान) का परिघाती है।

इन छह गुणोंसे विशिष्ट शास्त्रसे ही शाब्द-प्रमाण होता है, अन्य शास्त्रसे नहीं, क्योंकि वे ठगनेवाले होते हैं ॥ ९ ॥

कारिका १०—स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः ।
परार्थं मानमाख्यातं, वाक्यं तदुपचारतः ॥ १० ॥

परार्थानुमान और परार्थप्रत्यक्षका सामान्यलक्षण

अब परार्थानुमानका लक्षण कहना चाहिये। लेकिन वह परार्थत्व प्रत्यक्षमें भी दिखाई देता है, इसलिए एकयोगक्षेम होनेसे सामान्यसे कहते हैं—

'अपने समान दूसरोंको भी निश्चय कराना, इसको विद्वानोंने 'परार्थ' मान कहा है। उसके उपचारसे **वाक्यको** भी प्रमाण कहा है ॥ १० ॥'

यहाँ 'परार्थ मान' यह लक्ष्य है। 'स्वनिश्चयवत् अन्येषां निश्चयोत्पादनम्' यह लक्षण है। जैसे अपनेको अर्थका निर्णय है वैसे ही दूसरोंको भी निर्णय कराना, विद्वानोंने इसे 'परार्थ'—जिससे दूसरेके लिये प्रयोजन हो—मान कहा है। कोई यहाँ शंका कर सकता है कि—निश्चय कराना यदि परार्थ मान है, तो दूसरेके समझानेमें लगा हुआ, अर्थात् वक्ताका, ज्ञान भी परार्थ हुआ। इसके लिये कहते हैं—**वाक्य** परार्थ है, ज्ञान नहीं, क्योंकि वाक्यका ही ज्ञानके बाद व्यापार होता है और उसका प्रयोजन मात्र '**पर**' है जबकि ज्ञान व्यवहित[1] और स्वपरोपकारी है।

दूसरा प्रश्न यह हो सकता है कि वचन तो अज्ञानरूप है, वह कैसे प्रमाण हो सकता है? इसके लिये कहते हैं—ज्ञानका **वाक्यमें** उपचार होता है अर्थात् वाक्यको, ज्ञानमें कारण होनेसे, ज्ञान मान लेते हैं। जो जिसरूप नहीं है उसको उसका कारण होनेसे उस रूपसे ग्रहण करना, इसका नाम है **उपचार**। इससे इसका यह मतलब निकला कि—प्रतिपाद्य (जिसको समझाते हैं, समझाये जा रहे हैं) में दीखनेवाले ज्ञानका अव्यवहित कारण होनेसे **वचन** भी उपचारसे 'प्रमाण' कहा जाता है।

इनमेंसे अनुमानका पारार्थ्य तो बौद्ध लोग स्वीकार करते हैं, परन्तु प्रत्यक्षका पारार्थ्य स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि प्रत्यक्षमें शब्दका प्रवेश नहीं है, वह स्वलक्षणको ग्रहण करता है, अतः उसका विषय दूसरोंको नहीं बताया जा सकता। दूसरे, शब्दसे [illegible] भी नहीं, क्योंकि शब्द विकल्पसे उत्पन्न होनेसे दूसरोंको भी विकल्पका उत्पादक होता है। जैसे कि कहा है—

"शब्द विकल्पसे उत्पन्न होते हैं और विकल्प शब्दसे उत्पन्न होते हैं। इन दोनोंमें परस्पर कार्यकारणभाव है, लेकिन शब्द अर्थको छूते भी नहीं हैं। और प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है, अतः वह शब्दजन्य नहीं है।[2]" ॥ १० ॥

१. ज्ञानके बाद दिखता होती है: [illegible] होनेसे परस्परज्ञानमें ज्ञानका उत्पाद होता है।

२. विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः । कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि ॥

इसलिए अब अनुमानको दृष्टान्त बनाकरके प्रत्यक्षकी भी परार्थता सिद्ध करनेके लिये कहते हैं—

कारिका ११.—प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्।
परस्य तदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरपि ॥११॥

प्रत्यक्षका परार्थत्वरूपसे निरूपण

'अनुमानकी तरह **प्रत्यक्षसे भी** प्रसिद्ध अर्थका प्रकाशन होता है और दोनोंही परके प्रत्यायन-समझानेमें कारण हैं, अतः दोनोंको ही **परार्थत्व** है ॥ ११ ॥'

बौद्धलोग केवल अनुमानको परार्थ मानते हैं, सो केवल अनुमानको ही परार्थता नहीं है, किन्तु, तुल्यकारण होनेसे, **प्रत्यक्षको भी** परार्थता है। तुल्यकारणता परप्रत्यायन-दूसरेको समझाना, ज्ञान कराना-है। दोनोंमें (अनुमान और प्रत्यक्षमें) ही प्रतिपाद्यकी प्रतीतिके प्रति प्रतिपादकस्थ प्रत्यक्ष एवं अनुमानको निर्णीत अर्थके प्रकाशनका कारणत्व है।

प्रत्यक्षप्रतीत अर्थ दूसरेको बताया जा सकता है, समझाया जा सकता है और उसका ज्ञान कराया जा सकता है, इस बातको माननेवालेका यह अभिप्राय है—'प्रत्यक्षका विषय दूसरोंको नहीं बताया जा सकता,' ऐसा जो बौद्ध कहता है वह ठीक नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्षका निराकरण करके **व्यवसाय (विकल्प) रूप प्रत्यक्षका** साधन पहले हो चुका है, व्यवसायरूप प्रत्यक्षके विषयको **कथञ्चिद् विकल्पगम्य होनेसे** उसमें शब्दप्रतिपाद्यत्व है। कैसे है? वही बताते हैं—जैसे अनुमानसे प्रतीत अर्थ दूसरे के लिए प्रतिपादन किया जाता हुआ वचनरूपको प्राप्त होकर दूसरेके लिये अनुमान है, वैसे ही **प्रत्यक्षप्रतीत भी अर्थ** जब दूसरेके लिये प्रतिपादन किया जाता है और वचनरूपको प्राप्त होता है तब वह **'परके लिये'** है। परप्रत्यायन दोनोंमें ही समान है, केवल वचन-प्रयोगका ही भेद है। सो ही बताते हैं—**अनुमान-प्रतीत अर्थको** कोई दूसरोंको बताता हुआ इस प्रकारका वचनप्रयोग करता है—यहाँ अग्नि है, धूम होनेसे; जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती हैं, जैसे महानस (रसोईघर) आदिमें; अथवा **वैधर्म्यसे**—अग्निके अभावमें कहीं भी धुआँ **नहीं** होता, जैसे तालाब आदिमें, पर यहाँ धूम है, इसलिए (धूम होनेसे) यहाँ अग्नि है। जिसको धूम और अग्निका सम्बन्ध नहीं मालूम है, या मालूम होकर भूल गया है, इन दोनोंको भी उसीतरहसे बताया जा सकता है, लेकिन सम्बन्धके ख़याल हो जानेपर फिर ऐसा सोचता है—यहाँ अग्नि है, क्योंकि यहाँ धूम उत्पन्न हुआ है। **वैधर्म्येण**—यहाँ अग्नि है, नहीं तो धूम नहीं होता। लेकिन **प्रत्यक्षसे प्रतीत अर्थ को** दिखाता हुआ कोई इतना ही कहता है—देखो राजा जा रहा है। यहाँ दोनोंसे प्रतीत अर्थके कथनमें नानाप्रकारता होनेपर भी, चूंकि इससे समग्र सामग्रीवाले प्रतिपाद्यको अनुमेय और प्रत्यक्ष अर्थकी प्रतीति होती है, इस लिए **दोनोंको ही** परार्थता है। और जो यह कहा था कि—शब्दसे परके प्रत्यक्षकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है, क्योंकि शब्द विकल्पका जनक है, और प्रत्यक्ष स्वलक्षणको विषय करनेसे निर्विकल्पक है।—सो यह बात भी अयुक्त है, क्योंकि अर्थ सामान्यविशेषात्मक है, इसलिए तद्विषयक जो उसका निर्णय होगा उसका विषय भी **कथंचित् एक** होगा। इस तरह जब प्रत्यक्षका भी वही विषय है जो

शब्द, या निर्णय, या विकल्पका है और निर्णयका भी वही विषय है जो प्रत्यक्षका है, तब प्रत्यक्षमें **शब्दोत्पाद्यता** रहे तो इसमें कोई विरोध नहीं आता। और इस तरहका समर्थन हमने पहले भी किया है। कहोगे—प्रत्यक्ष चक्षुरादि सामग्रीसे होता है शब्दसे नहीं,—तो अनुमान भी अविस्मृत-सम्बन्ध प्रमाताके प्रत्यक्षादिसे निश्चित हेतुसे होता है, शब्दसे नहीं. इसलिए उसकी भी परार्थता नष्ट हो जायगी। अगर कहोगे कि—समर्थ हेतुका कथन करनेसे अनुमानमें वचनके परार्थता है,—तो यहाँ भी वचनसे दर्शन (प्रत्यक्ष) योग्य अर्थका प्रतिपादन करनेसे परार्थता है, ऐसा हम कहते हैं। इसलिए **प्रत्यक्ष** और **परोक्षमें** परार्थके प्रति कोई विशेषता नहीं है, अतः 'अनुमान परार्थ है, प्रत्यक्ष परार्थ नहीं' इस पक्षपातको छोड़ना ही ठीक है ॥ ११ ॥

कारिका १२—प्रत्यक्षप्रतिपन्नार्थप्रतिपादि च यद्वचः।
प्रत्यक्षं प्रतिभासस्य निमित्तत्वात्तदुच्यते ॥ १२ ॥

परार्थ प्रत्यक्षका स्वरूप

इस प्रकार दोनोंकी परार्थताका प्रतिपादन करके उनके स्वरूप कहनेकी इच्छासे, पहले प्रत्यक्ष-**का स्वरूप** कहते हैं—

'जो वचन (शब्द) प्रत्यक्षसे जाने हुए अर्थका प्रतिपादन करनेवाला है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है, क्योंकि वह प्रतिपाद्यके प्रत्यक्ष प्रतिभासका कारण होता है ॥ १२ ॥'

यहाँ इतना विशेष और समझना चाहिये कि जो प्रत्यक्षप्रतिपन्न अर्थका प्रतिपादन करनेवाला वचन प्रत्यक्षरूपसे, जैसे-देखो मृग जा रहा है, कहा जाता है वह तो **प्रत्यक्ष** हो जायगा, और जिसको उस अर्थमें अभी विवाद है, विप्रतिपत्ति है या संशय है उसके प्रति अनुमानरूपसे [illegible] यही वचन कहा जायगा, तब वह **अनुमान** हो जायगा। प्रश्न किया जा सकता है कि—वचन कैसे प्रत्यक्ष है?—तो उसके लिये कहते हैं कि जिसके लिए हम वचनका उच्चारण करते हैं, जो हमारा प्रतिपाद्य है, उसके प्रत्यक्षज्ञानका वह निमित्त होता है, इसलिए, वास्तवमें नहीं, किन्तु उपचारसे वचनको भी प्रत्यक्ष कहते हैं ॥ १२ ॥

कारिका १३—साध्यविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम्।
परार्थमनुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम् ॥ १३ ॥

परार्थानुमानका लक्षण

'साध्यके बिना नहीं होनेवाले हेतुका जो वचन प्रतिपादक है वह **परार्थ अनुमान** है, और वह अनुमान **पक्षादि-वचनात्मक** है ॥ १३ ॥'

जो अर्थको बतलाता है वह हेतु है। ऐसा हेतु जब साध्यके बिना कहीं नहीं होता [illegible] उससे साध्यरूप अर्थके जाननेकी शक्ति होती [illegible]। यदि साध्यके बिना भी वह [illegible]

कैसे हेतु साध्यरूप अर्थको जतायेगा ? कभी नहीं जता सकता। जिसको सिद्ध करना है वह **साध्य,** और विना साध्यके जो न हो वह **हेतु या साधन।** जैसे प्रत्यक्षज्ञानको प्रकट करनेसे उसको कहनेवाले वचनको प्रत्यक्ष कहा, वैसे ही यहाँ अनुमानज्ञानका प्रकाश करनेके कारण उसको कहनेवाला वचन **परार्थ अनुमान** है। वह अनुमान **पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय** और **निगमनादिके** वचनरूप होता है।

यहाँ किसीको शङ्का हो सकती है कि पहले तो यह कहा कि **हेतुका** प्रतिपादक वचन परार्थानुमान है; अब फिर थोड़ी देर ही बाद कहा कि **पक्षादिका** प्रतिपादक वचन परार्थानुमान है, सो पूर्वापर व्याहत बोलनेसे परार्थानुमानका कुछ ठीक स्वरूप नहीं माढ्म होता। इस शङ्काके लिये कोई अवकाश ही नहीं है। ऐसा मानते हैं कि परार्थानुमानका एक ही प्रकार नहीं है, दूसरेको जिस किसी भी तरह सरलतासे प्रमेयकी प्रतीति हो जाय उसी तरहसे यत्न करके बताना चाहिये। इस तरहसे बताने (प्रतिपादन) का उपाय **दश अवयववाला साधन** है। वही कहते हैं—पक्ष आदि **पाँच** और उनकी शुद्धि (शोधन) भी **पाँच,** इस तरह **दश।** " इनमेंसे जब प्रतिपाद्य क्रम-क्रमसे ही **पक्षका निर्णय** कर लेता है (निर्णीतपक्ष), **दृष्टान्तको** याद रखता है (अविस्मृतदृष्टान्त), स्मरण करने योग्य **प्रतिबन्ध** (सम्बध, व्याप्ति) के **ग्राहक प्रमाण** (तर्क) को जानता है (स्मार्यप्रतिबन्धग्राहकप्रमाण) और व्युत्पन्नमति होनेसे शेष **अवयवोंके** सोचनेमें समर्थ है, अथवा, अत्यन्त अभ्यास होनेसे मतिके मँज जानेसे (विशुद्ध हो जानेसे) जब उतने प्रयोगसे ही प्रस्तुत प्रमेयको जान लेता है, **तब हेतुका ही प्रतिपादन किया जाता हैं,** शेष अवयवोंका कथन श्रोताको माढ्म होनेसे निरर्थक है। " इत्यादिमें हेतुके प्रतिपादनको सूत्रकारने परार्थ अनुमान बताया है। और जब प्रतिपाद्यको आजतक भी **पक्षका निर्णय** नहीं हुआ तब अकाण्डमें (असमयमें) ही हेतुका उपन्यास (कथन) विना देखे-भाले मुद्गरके पातके समान होगा, अतः **पक्ष** भी कहना पड़ता है। तथा जब ऐसी स्थिति होती है कि प्रतिबन्धग्राही प्रमाण (ऊह) स्मरण नहीं होता है तब **दृष्टान्तका** भी वर्णन करना पड़ता है, नहीं तो हेतुके सामर्थ्यका ज्ञान नहीं होगा। प्रमाणके स्मृत होनेपर भी जो दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकमें लगाना नहीं जानता है उसके लिए **उपनयका** प्रदर्शन होता है; और फिर भी जो साकाङ्क्ष है, उसके लिए **निगमन** कहा जाता है, अन्यथा (अगर इनको पात्रविशेषमें न कहा जाय) तो निराकुल प्रस्तुत अर्थकी सिद्धि नहीं होगी। तथा जहाँ पक्षादिमें स्वरूपकी विप्रतिपत्ति है, अर्थात् यह भी नहीं माढ्म पड़ता कि यह ' पक्ष ' होने लायक है या नहीं, वहाँ उनकी शुद्धि (शोधन) भी प्रमाणसे कर लेना चाहिए, नहीं तो (प्रमाणसे उनका शोधन–निर्णय न कर सकने पर) वे स्वसाधनको सिद्ध नहीं कर सकेंगे। और इन सबको जो साधन (सिद्धि) का अवयव माना गया है, उसका एक ही कारण है और वह यह है कि प्रतिपाद्यकी प्रतीति (ज्ञान) के ये उपाय हैं।

हेतुकी तरह पक्षादि भी साधन हैं

यहाँ कोई शंका करता है कि—स्वनिश्चयके समान परको निश्चय कराना परार्थानुमान कहा गया है। लेकिन परको निश्चय करानेवाले परार्थानुमानमें जो क्रम होता है, वह स्वार्थानुमानके समय तो

साध्यका ज्ञान हो जानेसे—यदि साध्यका ज्ञान नहीं होगा, तो हेतुमें समर्थता नहीं रहेगी—फिर उसी हेतुका प्रमाणसे समर्थन तथा सर्वत्र उसकी व्याप्तिके गृहीत होने पूर्वक पुनः पक्षरूप धर्मीमें उपसंहार करना आदि निरर्थक हो जायँगे, तो इसका निवारण कौन कर सकेगा ? समर्थन और व्याप्तिज्ञानपूर्वक हेतुका पक्षधर्मीमें उपसंहरण, इनके बिना हेतुके सामर्थ्यकी पहिचान नहीं होगी, इसलिए इनका प्रयोग सार्थक है,—अगर ऐसा कहो, तो पक्षादिको भी छोड़कर प्रतिप्राद्यविशेष (कोई कोई प्रतिपाद्य) समझाये नहीं जा सकते हैं, इस कारण उनकी भी सार्थकता दुरुपपाद (दुःसाध्य) नहीं है, इसलिए इस विषयका आग्रह छोड़ना ही ठीक होगा। अतः हेतुकी तरह पक्षादि भी साधन हैं, क्योंकि हेतुको भी किसी किसी प्रतिपाद्यमें पक्षादिकी अपेक्षा होनेसे उसमें उनकी निरपेक्षताकी सिद्धि नहीं है।

इस सबका विचार करके कहा है कि यह परार्थानुमान पक्षादिवचनात्मक है ॥ १३ ॥

कारिका १४—साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः।
तत्प्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतोर्गोचरदीपकः ॥ १४ ॥'

पक्षका लक्षण

इसप्रकार अर्थसे पक्षादिकोंको प्रस्तुत करके अब पक्षका लक्षण कहते हैं—

'प्रत्यक्ष आदिसे जिसका निराकरण न हो सके ऐसे साध्यका स्वीकार करना पक्ष है। उस पक्षका प्रयोग परार्थानुमानमें करना चाहिये, क्योंकि वह हेतुके विषयका दीपक है ॥ १४ ॥

जिसको व्यक्त किया जाता है वह पक्ष होता है। यह पक्ष प्राश्निकादिके सामने प्रतिज्ञानके स्वीकार रूपमें होता है, जैसे—' सब अनेकान्तात्मक है,' ' सर्वज्ञ है,' इत्यादि। इस पक्षको प्रत्यक्ष अनुमान स्ववचन और लोकसे अबाधित होना चाहिये। यह पक्ष केवल ऐष्टव्य (मान्य) ही नहीं है किन्तु परार्थानुमानके समय उसका प्रयोग भी करना चाहिये। उसके प्रयोगसे हेतुका विषय ही स्पष्ट होता है। अभिप्राय यह है कि सब जगह नियत रूपसे ही पक्षका निर्णय करके प्रतिवादीके प्रति कूर्चशोभा (सावष्टम्भता, या श्मश्रुपरामर्शन) पूर्वक हेतुका उपन्यास नहीं किया जाता, लेकिन कहीं-कहीं किसी तरह किया जाता है। कहीं-कहीं हेतुके प्रयोगसे पहले ही प्रतिवादीको पक्षका निर्णय रहता है और कहीं-कहीं नहीं रहता। जब प्रतिवादीको पक्षका निर्णय पहलेसे ही हुआ रहता है, तब पक्षका प्रयोग, निरर्थक होनेसे, हम लोग नहीं करते हैं, और जब पक्षका निर्णय पहलेसे नहीं हुआ रहता है तब हेतुके विषयको ही दिखानेसे उसका प्रयोग करना सफल है ॥ १४ ॥

कारिका १५, १६—अन्यथा वाद्यभिप्रेतहेतुगोचरमोहिनः।
प्रत्याय्यस्य भवेद्धेतु विरुद्धारेकितो, यथा ॥ १५ ॥

धानुष्कगुणसंप्रेक्षिजनस्य परिविध्यतः।
धानुष्कस्य विना लक्ष्यनिर्देशेन गुणेतरौ ॥ १६ ॥

हेतुके दो प्रकारके प्रयोगका निरूपण

इस समय हेतुके लक्षणका अवसर है, और उसमें, स्वार्थानुमानकी तरह कोई विशेषता नहीं है। लेकिन स्वार्थानुमान ज्ञानरूप है, इसलिए उसमें वाक्यका प्रयोग नहीं दिखाया, परार्थानुमानके वचनरूप होनेसे इसमें तो दिखाना चाहिये। अतः उसको दिखाते हैं—

'**तथोपपत्ति**—साध्यके सद्भावमें ही होना, तथा **अन्यथानुपपत्ति**—साध्यके अभावमें नहीं ही होना, इन दो रूपसे हेतुका दो प्रकारका प्रयोग (वचन-रचना) होता है। इन दोनों प्रकारके प्रयोगोंमेंसे किसी एकके द्वारा भी साध्यकी सिद्धि हो सकती है॥ १७॥'

स्वार्थानुमानके प्रस्तावमें परप्रणीत लक्षणान्तरोंके निराकरणपूर्वक 'साध्यके अभावमें समस्त रूपसे हेतुका अभाव' ही हेतुका एकमात्र लक्षण निर्णीत किया था। परार्थानुमानमें भी वही प्रकाशित होना चाहिये, वचनरचना भले ही कहीं कैसी हो। वचनरचना भी दो ही तरहकी हो सकती है, एक तो जिसमें हेतुका साध्यके सद्भावमें ही होना बताया गया हो, जैसे–अग्निरत्र, धूमस्य तथैवोपपत्तेः—यहाँ अग्नि है, धूमकी अग्निके द्वारा ही उत्पत्ति होनेसे। यहाँ हेतु जो धूम है, उसका साध्य जो अग्नि उसके सद्भावमें ही रहना बताया गया है। इसीका नाम है **तथोपपत्तिरूप प्रयोग** या **अन्वयप्रयोग**। दूसरे जिसमें हेतुका साध्यके अभावमें न होना ही बताया गया हो, जैसे—'अग्निरत्र, धूमस्यान्यथानुपपत्तेः' —यहाँ अग्नि है, क्योंकि विना अग्निके धूमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यहाँ हेतु-धूमका साध्य-अग्निके अभावमें उत्पन्न न होना ही या न रहना ही बताया गया है। इसीको कहते हैं **अन्यथानुपपत्तिरूप प्रयोग** या **व्यतिरेक**। साध्यकी सिद्धि तथोपपत्तिरूप प्रयोग और अन्यथानुपपत्तिरूप प्रयोग इन दोनोंसे ही होती है, इसलिए दोनोंमेंसे किसी एकका प्रयोग करना चाहिये, दोनोंका एक साथ नहीं। क्योंकि दोनोंका प्रयोग करनेपर वचन-रचनामें ही भेद होगा, अर्थमें नहीं। प्रयोगका फल है साध्यका सिद्ध करना। यदि वह एकसे ही हो जाता है, तो दूसरेका प्रयोग निरर्थक हो जाता है, तब दूसरेका प्रयोग केवल वक्ताके अकौशलका ही सूचक होगा॥ १७॥

कारिका १८—साध्यसाधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयतेतराम्।
साधर्म्येण स दृष्टान्तः सम्बन्धस्मरणान्मतः॥ १८॥

साधर्म्यदृष्टान्तका लक्षण

अब दृष्टान्तके लक्षणका अवसर है। वह दो प्रकारका है—**साधर्म्यरूपसे** और **वैधर्म्यरूपसे**। इनमेंसे साधर्म्यदृष्टान्तको लक्ष्यमें करके कहते हैं—

'यह (साधन) इस (साध्य) के विना नहीं होता है इस रूप साध्य और साधनकी व्याप्ति जिसमें अच्छी तरहसे निर्णीत हो जाती है, वह **साधर्म्यदृष्टान्त** है। और वह सम्बन्धके स्मरणके लिये माना गया है॥ १८॥'

ये दो ही प्रमाण होते हैं ऐसा जिनका मिथ्या अभिनिवेश है, उनके ही यह दोष आ सकता है, हम लोगों के नहीं, क्योंकि हम लोग ' ऊह ' नामका एक अन्य प्रमाण मानते हैं, जो कि संबंधको ग्रहण करता है। यह प्रमाण अन्वयव्यतिरेकको क्रमशः ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ (अभाव) के बादमें होता है, इसका विषय अव्यभिचरित (निर्दोष) तथा त्रिकालव्यापी होता है और मतिज्ञान इसका कारण है। ऊह प्रमाणको न माननेसे जो व्यवहार देखा जाता है उसके विलोपका प्रसङ्ग हो जायगा, उसके विलोप होनेपर सारा विचार करना ही निरर्थक हो जायगा। इस ' न्यायावतार ' प्रकरणमें अनुमानसे ऊहको पृथक् करके नहीं दिखलाया, कारण कि, यह प्रकरण संक्षिप्तरुचि जीवोंके अनुग्रहके लिये बनाया गया है। शब्दको तो यों पृथक् किया है कि वह इसी प्रकरण (ग्रन्थ) में परार्थानुमानके लिये उपयोगी है। इसलिए इस प्रकरणको यहीं छोड़ते हैं ॥ १८ ॥

कारिका १९—साध्ये निवर्तमाने तु साधनस्याप्यसम्भवः।
ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः ॥ १९ ॥

वैधर्म्यदृष्टान्तका लक्षण

अब वैधर्म्यदृष्टान्तको दिखाते हैं—

' साध्यके निवर्तमान (अभाव) होनेपर साधनका भी असंभव जहाँ कहा जाता है वह वैधर्म्यदृष्टान्त है ॥ १९ ॥ '

जिसका विसदृश धर्म होता है वह विधर्मा है, उसका भाव वैधर्म्य। इस प्रकारका वैधर्म्य ' साध्यके अभावमें साधनका भी अभाव है ' इसरूपसे दिखाया जाता है। और यह वैधर्म्यदृष्टान्त भी सम्बन्धके स्मरणके लिये ही होता है। इसका दूसरा प्रयोजन नहीं है।

कारिका २०—अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धेर्बहिरुदाहृतिः।
व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः ॥ २० ॥

विस्मृतसम्बन्ध ही प्रतिवादीमें दृष्टान्तका प्रयोग क्यों होता है, अन्य हालतमें क्यों नहीं होता, इसका खुलासा—

' जब सम्बन्ध स्मर्यमाण है, तब ' अन्तः ' अर्थात् पक्षमें ' व्याप्ति ' अर्थात् साधनका साध्यके साथ घिरा हुआ होना—इससे (अन्तर्व्याप्तिसे) ही साध्यकी सिद्धि हो जानेसे ' बहिः ' अर्थात् विवक्षित धर्मीसे अन्यत्र दृष्टान्तधर्मीमें व्याप्ति दर्शनरूप उदाहरण व्यर्थ है तथा जब सम्बन्ध अगृहीत है, तब भी अन्तर्व्याप्तिके न होनेसे बाह्य उदाहरण व्यर्थ है, ऐसा न्यायके जाननेवाले कहते हैं ॥ २० ॥ '

विस्मृत संबंधसे अन्य हालत दो ही होती हैं—एक तो वह 'जब संबंध [illegible] है,' और दूसरी वह 'जब संबंध गृहीत ही नहीं हुआ है'। इन दोनों हालतोंमें किसमें दृष्टान्तका प्रयोग मानोगे ? यदि पहली हालतमें मानोगे, तो वह अयुक्त है, क्योंकि प्रतिपाद्य जब संबंध [illegible] भावी हेतुको स्मरण कर रहा है, तब पक्षमें भी हेतुको जान रहा है, तब फिर साध्यको कैसे नहीं जानेगा ? साधनके पक्षमें होनेसे ही तो साध्यका ज्ञान होता है, सो है ही, तब साध्यका ज्ञान [illegible] भावी है। जब इसीसे साध्यका ज्ञान होगया, तब विवक्षित धर्मी (पक्ष) को छोड़कर दूसरे [illegible] व्याप्ति देखना व्यर्थ है, क्योंकि दृष्टान्तधर्मीगत व्याप्तिसे हमें कोई मतलब नहीं है। [illegible] संबंधका ग्रहण होनेसे अन्तर्व्याप्तिका अभाव होनेसे बाह्य दृष्टान्तका कहना व्यर्थ है, क्योंकि कहीं एक जगह साथ-साथ देखनेसे सब जगह साथ-साथ देखना सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि इसमें व्यभिचार दिखाई देता है। इसलिए जिस प्रतिपाद्यने संबंध ग्रहण नहीं किया है, उसे [illegible] संबंध [illegible] चाहिये। जब संबंध मालूम हो जाये, तो उससे ही साध्यकी सिद्धि होनेसे [illegible] दिखाना अकिञ्चित्कर है, ऐसा न्यायके विद्वान् कहते हैं।

शेष अवयवोंकी सूचना

न्यायावतार प्रकरणमें शेष अवयवों—उपनय, निगमन और [illegible] लक्षण यद्यपि यों नहीं कहा है कि यह ग्रन्थ संक्षेपरुचि प्राणियोंके लिये है, तथापि [illegible] तीन अवयवोंसे उनको भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि [illegible] जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ऐसी तीन कथायें होती हैं। इनमेंसे हेतुका केवल जो प्रतिपादन [illegible] आदि अवयवोंका जो निवेदन करती है वह 'मध्यमा' और [illegible] 'उत्कृष्ट' कथा है। उनमेंसे यहाँ मध्यमाका कथन किया है, इससे [illegible] अपने-आप सूचना हो जाती है, क्योंकि ये दोनों प्रमाणसे सिद्ध हैं ॥ २० ॥

पक्षाभासका लक्षण

इस प्रकार पक्षादिके लक्षणका प्रतिपादन [illegible] भी स्पष्ट रूपसे ज्ञान होता है ' इस बातको समझ कर पक्षादिके लक्षणके [illegible] इनके आभास कहने चाहिए। इनमेंसे पहिले पक्षके लक्षणसे रहित पक्षाभासोंको [illegible]—

> कारिका २१　प्रतिपाद्यस्य यः सिद्धः पक्षाभासोऽक्षलिङ्गतः ।
> लोकस्ववचनाभ्यां च बाधितोऽनेकधा मतः ॥ २१ ॥

'प्रतिपाद्य, अर्थात् प्रतिवादीके जो सिद्ध है [illegible] पक्षाभास है [illegible] प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित [illegible] पक्षाभास माना गया है ॥ २१ ॥'

जो पक्षके स्थानमें तो आता है पर उसका कार्य नहीं करता, इस तरह पक्षके समान जो मालूम पड़ता है वह **पक्षाभास** है, और उसके अनेक भेद हैं—जैसे प्रतिवादीको जो सिद्ध है, वह **प्रतिपाद्यसिद्ध पक्षाभास** है, क्योंकि इसमें साध्यको ही पक्ष किया जाता है और जो सिद्ध है, वह साधन करनेके योग्य नहीं है, नहीं तो **अतिप्रसक्ति** आ जायगी, अर्थात् हरकोई सिद्ध किया जा सकेगा। इसका उदाहरण—'घट पौद्गलिक है,' अथवा सौगतके प्रति 'सर्व क्षणिक है' इत्यादि। **प्रत्यक्षबाधित पक्षाभास** वह है, जिसका पक्ष प्रत्यक्षसे बाधित रहता है। इसी तरह अनुमानसे बाधित सो **अनुमानबाधित,** इत्यादि समझना चाहिये। **प्रत्यक्षबाधितका** उदाहरण—स्वलक्षण निरंश हैं, या सामान्यविशेष परस्परमें भिन्न हैं। **अनुमानबाधितका** उदाहरण—सर्वज्ञ नहीं है। **लोकबाधितका** उदाहरण—माता गम्य (भोगने योग्य) है। **स्ववचनबाधितका** उदाहरण—सब भाव (पदार्थ) नहीं हैं।

यहाँ अनुमानबाधितको कुछ विशेषरूपसे समझना चाहिये। इसमें प्रकृत अनुमान दूसरे अनुमानसे बाधित हो जाता है। जैसे सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि अगर वह होता तो दिखाई देता, पर वह दिखाई नहीं देता है। इस अनुमानगत जो पक्ष 'सर्वज्ञका अभाव' है, वह निम्न लिखित अन्य अनुमानोंसे बाधा जाता है—

(१) 'असर्वज्ञ' इस प्रयोगमें सर्वज्ञ शब्द मुख्य सर्वज्ञकी अपेक्षा रखता है, जैसे खूब तेज बच्चेको लोग कह देते हैं कि 'यह बच्चा क्या है, यह तो अग्नि है', तो यहाँ 'अग्नि' शब्दका प्रयोग गौण है। यह गौण प्रयोग सच्ची अग्निकी याद दिलाता है। बिना असली या सच्ची अग्नि हुए इस बच्चेमें अग्निके गुणसे मिलता-जुलता कार्य देखनेसे उसे अग्नि नहीं कह सकते हैं। ठीक इसी तरह यदि कोई कहता है कि इस दुनियामें सर्वज्ञ नहीं है, इसका अर्थ है कि असली या वास्तवमें कोई 'सर्वज्ञ' है, उस जैसे गुण अभी किसीमें दिखाई नहीं देते हैं, इसलिए कहते हैं कि कोई सर्वज्ञ नहीं है। दूसरे शब्दोंमें कोई वास्तवमें 'सर्वज्ञ' है, उसीकी याद यह 'असर्वज्ञ' पदका 'सर्वज्ञ' शब्द याद दिलाता है। **बिना असली सर्वज्ञ हुए हम उसका निषेध नहीं कर सकते हैं।** पहले कभी किसी समय, उस समयके लोगोंने सर्वज्ञके दर्शन किये थे; अब इस स्थानमें, आजकलके लोगोंको, उसके न होनेसे उसके उन्हें दर्शन नहीं हो रहे हैं, इसलिए कहते हैं कि दुनियाँमें सर्वज्ञ नहीं है। **बिना किसी चीजकी विधि हुए उसका निषेध नहीं हो सकता है।**

(२) अथवा ज्ञानका तारतम्य किसी पुरुषमें अखीरमें जाकर अपनी चरमसीमाको पहुँच जाता है, **तारतम्य होनेसे,** आकाशके परिमाणके तारतम्यके समान। जिसमें यह ज्ञानका तारतम्य अपनी चरम सीमापर पहुँच जाता है वह सर्वज्ञ है।

(३) दुनियाँके पदार्थोंके दो विभाग हैं—एक सद्वर्ग और दूसरा असद्वर्ग। ये दोनों अनेक (एकसे भिन्न) होनेसे, किसीके एक ज्ञानके आलम्बन हैं, जैसे पाँच अङ्गुलि भिन्न-भिन्न (अनेक) हैं, उनको एक साथ जाननेवाला व्यक्ति ही किसीको यह कह सकता है कि फलाना पञ्चाङ्गुल (पाँच अङ्गुलीवाला) है, बिना पाँचों अङ्गुलियोंके एक साथ

असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभासोंका लक्षण

अब जिस लक्षणसे जिस नामका हेत्वाभास होता है, उसे दिखाते हैं—

कारिका २३—असिद्धस्त्वप्रतीतो यो, योऽन्यथैवोपपद्यते ।
विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु ॥ २३ ॥

'जो अन्यथानुपपन्नत्वसे अप्रतीत है, वह **असिद्ध** है। जो साध्यके विना ही, अर्थात् विपक्षमें ही, उत्पन्न होता है वह **विरुद्ध** हेत्वाभास है और जो साध्य तथा साध्यविपर्यय दोनोंसे युक्त होता है, वह **अनैकान्तिक** है ॥ २३ ॥'

अनेकान्त प्रत्येक प्राणीमें प्रसिद्ध है, प्रमाणसे प्रतिष्ठित है। ऐसे अनेकान्तके विरुद्ध बुद्धि रखनेवाले **कणभक्ष** (कणाद), **अक्षपाद** और बुद्ध आदिके कुत्सित या अल्प शिष्य क्रमसे **प्रशस्तपाद**, **उद्योतकर** और **धर्मकीर्ति** आदिकके द्वारा कहे गये जितने हेतु हैं वे सब ही,— जैसे शब्द सर्वथा अनित्य या नित्य है, उसमें 'सत्त्व होनेसे' 'उत्पत्तिवाला होनेसे,' 'कृतक होनेसे,' और 'पहिचाने जानेवाला होनेसे'—(इनमेंसे आदिके तीन हेतु **अनित्यत्वके** साधक हैं और अन्तिम **नित्यत्वका** साधक! 'सत्त्व' हेतु बौद्धकी अपेक्षासे तो अनित्यत्वका ही साधक है, वैसे असलमें वह नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंका साधक हो सकता है।)—विवक्षासे **असिद्ध, विरुद्ध** और **अनैकान्तिक** हेतु हैं, ऐसा जानना चाहिये। वही दिखाते हैं—

पहले **अनित्यैकान्तमें** दिखाते हैं कि उसमें सब ही हेतु असिद्ध हैं, क्योंकि वे चाक्षुपत्वकी तरह शब्दमें नहीं रहते हैं। शब्दमें वे यों नहीं रहते हैं कि असद् आदिके व्यवच्छेदपूर्वक मिथ्या कल्पनासे वे विकल्पित हैं। 'सत्त्व' हेतुमें असत् की व्यावृत्ति या व्यवच्छेद है, 'उत्पत्तिमत्त्व' हेतुमें अनुत्पन्नत्वका व्यवच्छेद है, 'कृतकत्व' में अकृतकत्वका और 'प्रत्यभिज्ञायमानत्व' में अप्रत्य-भिज्ञायमानत्वका व्यवच्छेद है। जो बात किसीके व्यवच्छेदसे आती है, वह मिथ्या कल्पनासे विकल्पित रहती है। अगर इन सत्त्वादिकको कदाचित् पारमार्थिक (असली) मानें तो एक ही पदार्थके अनेक रूपकी आपत्तिसे अनेकान्तवाद आ जायगा। अनेकान्तवादके अनुसार स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव) की अपेक्षा पदार्थ **सत्** है और परचतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव) की अपेक्षासे वह **असत्** है। भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे पदार्थ भिन्न-भिन्न धर्मोंका आकर (खानि) है। और जब इन हेतुओंकी सत्ता कल्पनासे (असदादिके व्यवच्छेदपूर्वक) मानेंगे, तब उनमें कोई शक्ति तो रह नहीं जायगी और शक्तिके न रहनेसे निःस्वभावता आ जायगी। निःस्वभावता आनेपर भी फिर भी तुम उन्हें साधन मानोगे, तो साध्य भी निःस्वभाव हो जायगा, तो इस तरह गधेका सींग खरगोशका 'साधन' हो जायगा। यह कैसा अच्छा साध्य-साधन-व्यवहार हो गया? कहोगे कि—यह जितना अनुमान और अनुमेयका व्यवहार है, वह सब बुद्धिमें है, ज्ञानमें है, अर्थात् कल्पनामें है। ज्ञानमें एक साधन-धर्म माळूम पड़ता है और दूसरा साध्य-धर्मी

जब दो चीजें भिन्न होती हैं तो उनमेंसे एक दूसरीमें रहती है, या रह सकती है, पर जब दोपनेका भेद ही नहीं है, सिर्फ़ धर्म या धर्मीरूपसे एक ही चीज़ है, तो एकमें तो साधन-साध्यका भेद न होनेसे साधन साध्यमें न रहेगा, और इस तरह **असिद्धत्व दोष** आ जायगा, क्योंकि असिद्धत्वके निवारणके लिये साधनका साध्यमें रहना अत्यन्त आवश्यक है, सो यह शर्त यहाँ पूरी नहीं हुई है, अतएव इस पक्षमें हेतुका असिद्धता दोष अवश्यंभावी है, शब्दके नित्यत्व या अनित्यत्व-साधन दोनों ही पक्षोंमें जितने ही 'सत्त्व' आदि साधन हैं, उन सबोंकी **विरुद्धता** भी समझ लेनी चाहिये, क्योंकि इन सब साधनोंका स्वभाव नित्यैकान्त या अनित्यैकान्त इन दोनोंसे भिन्न (विरुद्ध) अनेकान्त स्वभावसे प्रतिबद्ध है। यह बात हम आगे भी कहेंगे। इसी तरह दोनों ही पक्षोंमें निर्दिश्यमान सभी हेतु **अनैकान्तिक** भी होते हैं, क्योंकि वे परस्पर-विरुद्ध-साध्यमें अव्यभिचारी रूपसे रहते हैं, क्योंकि वे समान युक्तियोंसे ही विपक्षमें भी दिखाये जा सकते हैं। कैसे ? सो ही दिखाते हैं—

अनित्यवादी नित्यवादीके प्रति इस तरह प्रमाणका प्रयोग करता है—सब क्षणिक है, होनेसे। अक्षणिक (नित्य) में न तो **क्रमसे** अर्थक्रिया बनती है, और न **एकसाथ**। और अर्थक्रिया (कार्य) का करना ही 'भाव या सत्त्व' का लक्षण है। जब अक्षणिकमें अर्थक्रिया न रही तो वह स्वगर्भित सत्ताको भी नहीं रहने देगी, इस तरह क्षणिकत्वकी सिद्धि हो जायगी। नित्य अर्थ अर्थक्रियामें **क्रमसे** प्रवृत्ति करनेका उत्साह नहीं कर सकता है, क्योंकि पूर्व अर्थक्रियाको करनेके स्वभावको नष्ट करके ही उत्तर-क्रियामें प्रवृत्ति हो सकती है। अगर ऐसा नहीं होगा, तो पूर्व अर्थक्रिया करनेके स्वभावसे प्रच्यव (रहित) होनेपर नित्यता चली जाती है, क्योंकि तदवस्थ (वैसा-का-वैसा) न रहना ही अनित्यत्वका लक्षण है। 'नित्य तो अर्थ पहले था ही, लेकिन वह क्रमसे होनेवाले सहकारी कारणरूप अर्थकी प्रतीक्षामें था, सो पश्चात् उसको प्राप्त करके क्रमसे कार्य करेगा'—ऐसा कहो, सो भी नहीं बनता है, क्योंकि सहकारी कारण नित्यमें कुछ भी कामका नहीं है। अकिञ्चित्करकी भी यदि प्रतीक्षा करेगा तो **अनवस्था** हो जायगी। और न **यौगपद्य** (एकसाथपना) से नित्य अर्थ अर्थक्रियाको करता है, क्योंकि ऐसा माननेमें प्रत्यक्षसे विरोध आता है। एक ही समयमें सकल क्रियाओंको प्रारम्भ करता हुआ कोई नहीं दीखनेमें आता। अथवा, थोड़ी देरके लिए मान लेते हैं कि कोई व्यक्ति, शायद, ऐसा निकल आये जो एक ही समयमें सब क्रियाओंका प्रारम्भ कर सकता हो, तो भी आद्यक्षणमें ही उसके सकल क्रियाओंके कर देनेसे द्वितीय आदि क्षणोंमें **नहीं करनेवाला होजानेसे** अनित्यता बलपूर्वक आ जाती है, क्योंकि एक ही स्वभावमें 'करना' और 'न करना' ऐसे दो विरुद्ध स्वभाव हो जानेसे एकस्वभावगत नित्यताका लोप हो जाता है।

नित्यवादी इस तरह प्रमाणका प्रयोग करता है—**सब नित्य है, होनेसे**। क्षणिकमें **सत्-काल** (जिस समय क्षणिक अपना कार्य कर रहा है) और **असत् काल** (जिस समय क्षणिक अपना कार्य नहीं कर रहा है) दोनोंमें अर्थक्रिया नहीं बनती है। अर्थक्रियालक्षण सत्त्व किसी अवस्थासे—चाहे वह सत्काल हो या असत्काल हो—बद्ध नहीं है, इसलिए जब सत्त्व क्षणिकमें नहीं रहता तो अनन्य-शरणरूपसे नित्यत्वको सिद्ध करता है। वही दिखाते हैं—क्षणिक अर्थ **सत् कार्यको** करेगा, या **असत्-**

है, किन्तु वक्ता दृष्टान्त खाली देखनेका देता है; घट तो देखा जाता है या छुआ जाता है, वह सुना नहीं जाता। जब सुना जायगा तब वह 'घट' शब्द ही होगा, 'घट' अर्थ नहीं होगा। दृष्टान्त ऐसा देना चाहिये जिसमें साध्य साधन दोनों रहें।

अब दृष्टान्ताभासोंके भेद उदाहरण सहित बताते हैं –१. साध्यविकल, २ साधनविकल, ३. साध्यसाधनोभयविकल तथा आदि शब्दसे ४. संदिग्धसाध्यधर्म, ५. संदिग्धसाधनधर्म और ६. संदिग्धोभयधर्म।

१. **साध्यविकल**-जैसे—**अनुमान भ्रान्त है, प्रमाण होनेसे, प्रत्यक्षके समान।** यहाँ दृष्टान्त 'प्रत्यक्ष' में साध्य 'भ्रान्तता' नहीं है। प्रत्यक्षको भ्रान्त माननेपर सकल व्यवहारके उच्छेदका प्रसङ्ग आ जायगा, और उसका उच्छेद होनेपर प्रमाण-प्रमेयका अभाव होनेसे कुछ भी किसीके द्वारा साध्य नहीं होगा। इस तरह भ्रान्तवादीका मुँह बन्द हो जायगा।

साधनविकल, जैसे–**जागते समयका संवेदन (ज्ञान) भ्रान्त है, प्रमाण होनेसे, स्वप्नसंवेदनके समान।** यहाँ दृष्टान्त 'स्वप्नसंवेदन' में 'प्रमाणता' साधन नहीं है, क्योंकि वह (स्वप्नसंवेदन) अपनेसे विपरीत जाग्रत्प्रत्यय (जागते समयका ज्ञान) होनेपर बाधित होजाता है।

३. **उभयविकल**—जैसे–**सर्वज्ञ नहीं है, प्रत्यक्षादिसे अनुपलब्ध होनेसे** घड़ेके समान। घड़ेका अस्तित्व है, इसलिए तो उसमें साध्य नहीं है और प्रत्यक्षादिसे उपलब्ध है, इसलिए उसमें साधन नहीं है, अतः यह उभयविकल है।

४. **संदिग्धसाध्यधर्म**—जिसमें साध्यका धर्म संदिग्ध हो, जैसे–**यह वीतराग है, क्योंकि इसमें मरनेका धर्म है, अर्थात् यह अवश्य मरेगा, रथ्यापुरुष (सड़कपर जानेवाले पुरुष) की तरह।** यहाँ सड़कपर जानेवाले अर्थात् मामूली आदमीमें वीतरागपना संदिग्ध है, कह नहीं सकते कि वह वीतराग है या नहीं, क्योंकि चित्तके विशिष्ट धर्म, विशिष्ट व्याहार (संभाषण) आदि लिंग (साधन, चिह्न) से जाने जाते हैं, इसलिए जबतक रथ्यापुरुषका विशिष्ट व्याहार आदि कोई संकेत (लिङ्ग) नहीं मालूम पड़ता है, तबतक उसमें वीतरागताका भी निर्णय नहीं कर सकते हैं।

५. **संदिग्धसाधनधर्म**—जिसमें साधनका धर्म संदिग्ध हो, जैसे–**यह पुरुष मरणधर्मा है,** (कभी-न-कभी अवश्य मरेगा), **रागादिमान् होनेसे, रथ्यापुरुषके समान।** यहाँ रथ्यापुरुषमें रागादिमानपना संदिग्ध है, क्योंकि वीतराग भी रथ्यापुरुष हो सकता है।

६. **संदिग्धोभयधर्म**--जिसमें उभय (साध्य, साधन) संदिग्ध हो, जैसे—**यह असर्वज्ञ है, रागादिमान् होनेसे, रथ्यापुरुषके समान।** रथ्यापुरुषमें ऊपर जैसा दिखाया गया है, साध्य-साधन दोनों ही संदिग्ध हैं।

यहाँ कोई शंका करता है कि—दूसरोंने और भी तीन दृष्टान्त माने हैं, जैसे—**अनन्वय, अप्रदर्शितान्वय और विपरीतान्वय।** इसमेंसे अनन्वयका दृष्टान्त—**विवक्षित (कोई) पुरुष**

कारिका २५.—वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः ।
साध्यसाधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात् ॥ २५ ॥

'साध्य, साधन और उभय इनकी निवृत्ति—अभाव न बननेसे तथा इनमें संशय होनेसे इस स्थलमें वैधर्म्यसे दृष्टान्तके दोष विद्वानोंने कहे हैं ॥ २५ ॥'

साध्याभाव साधनाभावसे व्याप्त जिसमें दिखाना इष्ट हो वह वैधर्म्य है। इस वैधर्म्यके द्वारा छह दृष्टान्ताभास सूचित होते हैं:—१. साध्याव्यतिरेकी—जिसमें साध्यका अभाव नहीं हो सकता; २. साधनाव्यतिरेकी—जिसमें साधनका अभाव नहीं हो सकता; ३. साध्यसाधनाव्यतिरेकी—जिसमें साध्य, साधन दोनोंका ही अभाव नहीं हो सकता; तथा ४. संदिग्धसाध्यव्यतिरेक—जिसमें साध्यका अभाव संदिग्ध हो। यह निश्चय नहीं कर सकते हैं कि इसमें साध्यका अभाव है या नहीं ? ५. संदिग्धसाधनव्यतिरेक—जिसमें साधनका अभाव संदिग्ध हो, और ६. संदिग्धसाध्यसाधनव्यतिरेक— जिसमें साध्य-साधन दोनोंका अभाव संदिग्ध हो।

इनमेंसे १. साध्याव्यतिरेकीका दृष्टान्त, जैसे-'अनुमान भ्रान्त है, प्रमाण होनेसे।' यहाँ वैधर्म्यदृष्टान्त—जो भ्रान्त नहीं होता वह प्रमाण नहीं होता, जैसे स्वप्नज्ञान। यहाँ स्वप्नज्ञानसे भ्रान्तताकी निवृत्ति (साध्यका अभाव) न होनेसे उसमें साध्यका अभावपना नहीं (साध्याव्यतिरेकित्व) है।

२. साधनाव्यतिरेकीका दृष्टान्त-'प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है, प्रमाण होनेसे।' यहाँ वैधर्म्य दृष्टान्त—जो सविकल्पक है, वह प्रमाण नहीं है, जैसे अनुमान। यहाँ अनुमानसे प्रमाणता (साधन) की निवृत्ति (अभाव) न होनेसे साधनका अभावपना नहीं (साधनाव्यतिरेकित्व) है।

३ उभयाव्यतिरेकी जैसे--'शब्द नित्यानित्य है, सत् होनेसे'। यहाँ वैधर्म्य दृष्टान्त--जो नित्यानित्य नहीं है वह सत् नहीं है, जैसे घट। घटसे उभय [साध्य (नित्यानित्यत्व) और साधन (सत्त्व)] की व्यावृत्ति (अभाव) न होनेसे उभयका अभावपना नहीं (उभयाव्यतिरेकित्व) है।

४. तथा संदिग्धसाध्यव्यतिरेकका दृष्टान्त जैसे—'कपिल आदिक असर्वज्ञ या अनाप्त हैं, आर्यसत्यचतुष्टयके[1] प्रतिपादक न होनेसे।' यहाँ वैधर्म्य दृष्टान्त-जो फिर सर्वज्ञ या आप्त है, उसने आर्यसत्यचतुष्टयका प्रतिपादन किया है, जैसे कि शौद्धोदनि (बुद्ध) ने। अथवा यह साध्याव्यतिरेकी है, क्योंकि दुःख-समुदय-मार्ग-निरोधरूप जो आर्यसत्यचतुष्टय वह प्रमाणसे बाधित है और प्रमाणसे बाधित होनेसे उसके कहनेवालेको असर्वज्ञता और अनाप्तताकी आपत्ति होती है। केवल उन लोगोंको जो आर्यसत्यचतुष्टयके निराकरण करनेवाले प्रमाणके सामर्थ्यका विचार नहीं कर सकते हैं, यह

१. पापसे जो दूर जाते हैं वे आर्य हैं। ऐसे आर्य या तो साधुलोग हैं या पद हैं। इनके लिए जो हितकारी सो सत्य, अर्थात् तत्त्व। साधुके लिये तो चतुरार्य सत्य मुक्ति दिलाते हैं, इसलिए हितकारी हैं, और पदोंके लिये वे हितकारी यों हैं कि उनसे यथावस्थित वस्तुके स्वरूपका चिन्तन होता है। इस तरह निरुक्तिसे पापनाशक तत्त्वोंको आर्यसत्य कहते हैं। वे संख्यामें चार हैं, अतः आर्यसत्यचतुष्टय है।

ऐसा तो है नहीं, पहलेसे प्रवृत्त संबंधके ग्रहणमें चतुर जो प्रमाण (ऊह या तर्क), उसके विषयके स्मरणके लिये दृष्टान्तका ग्रहण होता है। 'एक जगह जो जिसके अभावमें नहीं देखा गया है, वह उसके अभावमें होता ही नहीं है,' यह विना प्रतिबन्ध (व्याप्ति) ग्रहण करनेवाले प्रमाणके सिद्ध नहीं होता है, नहीं तो अतिप्रसंग हो जायगा।

इसलिए जिसका प्रतिबन्ध सिद्ध नहीं है, ऐसे हेतुका ही यह दोष है, दृष्टान्तका नहीं।

इसी तरह **अप्रदर्शितव्यतिरेक** और **विपरीतव्यतिरेकको** भी दृष्टान्ताभास कहना अयुक्त है, क्योंकि वे दोनों **वक्ताके दोष** हैं। कैसे वही बताते हैं—**अप्रदर्शितव्यतिरेकका उदाहरण**-उन्होंने 'शब्द नित्य है, कृतक होनेसे, आकाशके समान,' यह बताया है। यहाँ विद्यमान भी व्यतिरेक वादीने वचनके द्वारा प्रकट नहीं किया है, यह उसकी दुष्टता है। **विपरीतव्यतिरेक**—जैसे 'शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे।' यहाँ वैधर्म्यदृष्टान्त—जो अकृतक है वह नित्य होता है, जैसे आकाश। यहाँ विपरीत दिखानेसे विपरीतव्यतिरेकित्व है। वैधर्म्यके प्रयोगमें साध्याभाव साधनाभावसे आक्रान्त दिखाना चाहिये लेकिन यहाँ ऐसा नहीं है, यहाँ तो साधनाभावको साध्याभावसे व्याप्त बतलाया है। व्यतिरेकका अप्रदर्शन और विपरीत व्यतिरेकका प्रदर्शन, ये वस्तुके दोष नहीं हैं। तो फिर क्या हैं? ये तो वचनकी कुशलतासे रहित **अभिधायक (कहनेवाले) के दोष** हैं। दूसरी बात यह है कि जिन **बौद्ध लोगोंका** यह मत है कि—स्वार्थानुमानकालमें स्वयं हेतुके देखने या जाननेमात्रसे साध्यकी प्रतीति हो जाती है, इसलिए परार्थानुमानके समय भी हेतुका ही प्रतिपादन करना चाहिये, क्योंकि ऐसा कथन भी है,—"विद्वानोंको केवल हेतु ही कहना चाहिये"—उनके यहाँ 'कृतक होनेसे' इतना हेतुमात्र कहनेसे जिसकी हम सिद्धि चाहते हैं, ऐसे साध्यकी सिद्धि होनेसे समस्त दृष्टान्ताभासोंका वर्णन भी पूर्वापरबाधित ऐसी वचन-रचनाके चातुर्यको ही प्रकट करता है। इन दोनों (अप्रदर्शितव्यतिरेक और विपरीत-व्यतिरेक) की बात तो जाने दो, तुम लोगोंने तो **दृष्टान्तको** साधनका अवयव भी नहीं माना है। अगर ऐसा कहो—'अन्वय और व्यतिरेकका ज्ञान न होनेपर प्रतिपाद्य (प्रतिवादी या सुननेवाले) को विना दृष्टान्तके इन दोनोंको नहीं बताया जा सकता है, अतः अन्वयव्यतिरेक दिखानेके लिये दृष्टान्त कहना चाहिये। तदनन्तर अन्वयव्यतिरेकके दिखानेका कार्य जिनसे न हो, उन्हें दृष्टान्ताभासमें गिनना चाहिये—' तो यह तो किसीका गला पकड़ा जानेपर जैसे वह जोरसे चिल्लाता है, उसके समान है, क्योंकि फिर भी अप्रदर्शितव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक ये वास्तविक दृष्टान्ताभास नहीं हैं। तो क्या हैं? ये वक्ताके दोषसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये इन्हें कहना नहीं चाहिये, क्योंकि इस तरहके, विद्यमान वस्तुके प्रकाशनकी सामर्थ्यसे रहित, अत्यन्त जड़तासे युक्त पुरुषको वादका अधिकार नहीं है। बचपनमें पाठशालामें पढ़ते वक्त जो योग्यता थी, उतनी ही योग्यतासे विद्वानोंका वाद करना युक्त नहीं है। वादके लिये ज्यादा योग्यता और हुशियारीकी जरूरत है॥ २५॥

है ? इसका कारण यह है कि सम्यक् साधनमें दोषका उद्भावन प्रलापके समान है। एक तरहका एक और भी दूषणाभास होता है, वह यह कि—समर्थसाधनके कहनेसे साध्यके सिद्ध किये जानेपर यदि अपशब्द और अपालङ्कार आदि दोष विद्यमान हैं तो उनका उद्भावन भी दूषणाभास है । ये 'दूषण' यों नहीं हैं कि वादकी प्रवृत्तिका मुख्य कारण वस्तुकी सिद्धि है और वह (वस्तु) तो सिद्ध है ही, तब अपशब्दादि उसमें अप्रस्तुत हैं, उनके द्वारा दोषका प्रकाशन असंबद्ध प्रलाप है। अगर ऐसा न हो, तो अपशब्दादिके कहने मात्रसे ही दूसरेका निराकरण हो जायगा, तब समर्थ साधनके अन्वेषणका प्रयत्न भी नष्ट हो जायगा, क्योंकि तब उसका कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। उसका प्रयोजन जो वस्तु-सिद्धि था, वह तो रह गया अलग और उसमें दूषण निकालनारूप जो **पर** (प्रतिवादी, प्रतिपक्षी) **का अपाकरण** (निराकरण) वह तो अब अपशब्दादिके उद्भावनसे ही होने लगेगा। इसलिए **परापाकरणके** लिये समर्थ साधनको ढूँढ़नेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी ॥ २६ ॥

पारमार्थिकप्रत्यक्षका निरूपण

इस प्रकार प्रत्यक्ष-परोक्ष, स्वार्थ-परार्थ आदि भेदवाले व्यावहारिकप्रमाणके लक्षणका प्रतिपादन करके अब जो लोग पारमार्थिक, समस्त आवरणोंके नाशसे प्राप्त होने योग्य, अशेष अर्थोंको देखनेवाले केवलज्ञानको स्वीकार नहीं करते हैं, उनके मतके उद्दलनके लिये केवलज्ञानके—जो कि पारमार्थिकप्रत्यक्ष है—लक्षण कहनेकी इच्छासे कहते हैं—

कारिका २७.—सकलावरणमुक्तात्म केवलं यत्प्रकाशते ।
प्रत्यक्षं सकलार्थात्मसततप्रतिभासनम् ॥ २७ ॥

'सकल आवरणोंसे रहित हो करके और सकल वस्तुओंके स्वरूपको सतत प्रतिभासित करनेवाला जो केवल, अर्थात् ज्ञानान्तरसे निरपेक्ष होकर ज्ञान प्रकाशित होता है, वह **परमार्थसे प्रत्यक्ष** है ॥ २७ ॥

पारमार्थिकप्रत्यक्षका स्वरूप आवरणके क्षयोपशमसे होनेवाले ऐसे किसी दूसरे ज्ञानकी सहायताके विना प्रकाशित होना है । ज्ञान तो वास्तवमें परिपूर्ण एक ही है, लेकिन आवरणरूप कर्मोंके क्षयोपशमकी विचित्रता (विविधता) से ही ज्ञानकी नानाकारसे प्रवृत्ति दिखाई देती है और जब इस आवरणका निर्दलन समस्तरूपसे होता है, तब दीवाल बाँधनेवाले किसी कारणके न रहनेसे एकाकार रूपसे ही उसका हलन-चलन होता है । यह पारमार्थिकप्रत्यक्ष सकल आवरणों-कर्मोंके दूर होनेसे प्रकट होता है। इसका कार्य समस्त वस्तुओंके स्वरूपको हमेशा प्रतिभासित करते रहना है। इस तरह ऊपर पारमार्थिकप्रत्यक्षका **स्वरूप**, **हेतु** और **कार्य** बतलाया । उसका कार्य बतलाते समय आत्माके धर्मरूपसे ज्ञान विवक्षित है, अतः वह (ज्ञान) उससे भेदरूप है।

यह प्रत्यक्षपारमार्थिक है, क्योंकि 'प्रत्यक्ष' शब्दका मुख्य अर्थ यही है। वही दिखाते हैं—'**अक्ष**' शब्दका अर्थ होता है जीवकी पर्याय। इसलिए जीवके प्रति जो हो वह **प्रत्यक्ष** है, अर्थात् इसमें

विद्यमान रहता है, वह समस्तरूपसे शुद्ध हो सकता है, जैसे किसी खास रत्नमें क्षार (खारी) मिट्टीके पुटपाक आदि शुद्धिके उपाय विद्यमान हैं, उसी तरहसे आत्मामें भी ज्ञानादिका (आदि शब्दसे दर्शनका, चारित्रका) अभ्यास शुद्धिका उपाय विद्यमान है, अतः आत्माकी समस्तरूपसे शुद्धि हो सकती है। समस्तरूपसे शुद्ध आत्मा, ज्ञान और ज्ञानीके कथञ्चित् अभेदसे, केवलज्ञानको कहा है। ज्ञानादिका अभ्यास विशुद्धिका कारण कैसे है? ऐसा अगर पूछो तो हमारा उत्तर यह है कि वह आवरणरूपी मलका प्रतिपक्षरूप है। प्रतिपक्षरूपताका निश्चय कैसे किया, सो यह तो तुम्हारे (मीमांसकके) ही मतसे किया है। वही बताते हैं—ज्ञानादिके अभ्याससे प्रतिक्षण आवरणका विलय दिखाई देता है, विशिष्ट विशिष्टतर जो आवरणके विलयका कार्य बोध आदि, उसका अनुभव होनेसे, उस विशिष्ट ज्ञानादिके अभ्यासकी अधिकता होनेपर आवरणका समस्तरूपसे उच्छेद हो जाता है, ऐसा हम कहते हैं।

मीमांसकका पारमार्थिकप्रत्यक्षके खण्डनमें पूर्वपक्ष, उसका उत्तर और उसका व्यवस्थापन

इस कथनसे जो दूसरोंने ऐसा कहा है, जैसे—सम्पूर्ण अर्थोंको विषय करनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष आदि जो पाँच प्रमाण हैं, उनका विषय नहीं होता, अतः 'अभाव' नामका जो छट्ठा प्रमाण है, उसका विषय होता है—वह अयुक्त है, क्योंकि 'सर्वार्थसंवेदन है' यह बात अनुमानसे सिद्धकी है, इससे जो आप यह कहते थे कि सर्वार्थसंवेदन पाँचों प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं है, वह गलत साबित हुआ। दूसरा मुद्दा यह है कि प्रमाणपञ्चक (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति) सर्वार्थसंवेदनको विषय नहीं करते हैं, यह आपका निर्णय क्या नियत देश, कालको लेकर है, या समस्त देश और कालको लेकर (१) यदि आप आद्य पक्ष मानते हो, तो जिस तरह घटादिका प्रमाणपञ्चक कहीं-कहीं अपने विषयभूत 'निवर्तमान (हटनेवाले, चले जानेवाले, विलीन होनेवाले) अभाव' को सिद्ध करता है, उसी तरह समस्त वस्तुके जाननेवाले ज्ञानको विषय करनेवाला प्रमाणपञ्चक नियत देश और दशासे अवच्छिन्न, अतएव 'कभी-ही-कभी नष्ट होनेवाले अभाव' को सिद्ध करेगा, सब कालके अभावको नहीं, तब घटादिके समान वह (सर्वार्थसंवेदन) दुर्निवार हो जायगा। और अगर (२) द्वितीय पक्ष मानते हो, यह तो असंभव है, समस्त देश और समस्त कालमें रहनेवाले पुरुष-समाजके ज्ञानको साक्षात् करनेवालेका ही ऐसा कहना ठीक हो सकता है कि कहीं भी समस्त अर्थोंको जाननेवाला ज्ञान नहीं है, आपका कहना नहीं, क्योंकि आपने तो ऐसे पुरुषकी उत्पत्ति संभव मानी ही नहीं है, नहीं तो (यदि समस्त देश और कालको लेकर यह कहना ठीक समझा जाय तो) जो कोई भी ऐसा निश्चित करके कहेगा वही अपना ज्ञान ऐसा रखता है कि उसका आलोक समस्त वस्तुओंके विस्तारमें रहेगा। इस तरह समस्तार्थगोचर संवेदनकी सिद्धि हो जायगी। अब इस प्रकरणको यहीं छोड़ते हैं॥ २७॥

प्रमाण और नयके विषयका निरूपण

अब **गोचर**-विषय-विप्रतिपत्तिका निराकरण करते हैं—

कारिका २९—अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः ॥ २९ ॥

"सब ज्ञानोंका विषय **अनेकान्तात्मक** वस्तु है। और नयका विषय **एकदेश (धर्म) से विशिष्ट** वस्तु है ॥ २९ ॥"

जिसमें अनेक अन्त, अर्थात् अंश, धर्म हैं वह अनेकान्तात्मक है। बाह्य वस्तु हो या अन्तः (भीतरी), सभी अनेकान्तात्मक हैं। सर्व ज्ञानोंका विषय यही अनेकान्तात्मक वस्तु पड़ती है। इस कथनका मतलब यह है कि विना अनेकान्तके संवेदन ही नहीं हो सकता। यहाँतक कि जो संवेदन भ्रान्त हैं, वे भी अनेकान्तको ही बतलाते हैं, केवल किन्हीं अंशोंमें विसंवादक होनेसे वे 'अप्रमाण' कहे जाते हैं। इसका यह अभिप्राय हुआ कि–जब संवेदनसामान्य भी अनेकान्तके विना प्रवृत्ति नहीं कर सकता है, तब उसका विशेषणभूत 'प्रमाण' एकान्तमें प्रवृत्ति करेगा, यह बात तो और भी दूर चली जाती है, फिर भी ऐसे बहुतसे लोग हैं, जिनके अन्तःकरणके अनादि मिथ्या अभिनिवेशोंसे वासित होनेके कारण जिनकी बुद्धि कुदर्शनों, कुमतोंसे विप्रलब्ध (ठगाई गई) है, अतएव जिनको इस विषयमें विवाद है। इसलिए सर्व प्रमाणोंके अनेकान्तके विषयपनेका साधक प्रमाण कहते हैं।

प्रमाणोंका विषय अनेकान्त है, इस बातकी सिद्धि

लोकमें प्रमाण परस्परमें अभिन्न (अविभक्त) ऐसे अनेक धर्मोंसे परिकरित (युक्त) वस्तुका ग्राहक है; **ऐसी वस्तुका ही उसमें प्रतिभासन होनेसे**; इस लोकमें जो जिसमें प्रतिभात होता है, वही उसके विषयरूपसे स्वीकार करना चाहिये, जैसे–निर्दोष नयनोंसे होनेवाले दर्शनमें लालरूपसे प्रतिभासमान जपाकुसुमका विषय लालरूप ही माना जाता है; और सर्व प्रमाणोंमें **परस्परमें अविभक्त ऐसे अनेक स्वभावोंसे आक्रान्त बाह्य और भीतरी वस्तु ही** मालूम पड़ती है, इसलिए वही उनका विषय है।

इस हेतुमें असिद्धता आदि दोषोंका निराकरण

(I) सबसे पहले 'असिद्धता' हेत्वाभासका निराकरण

(!) कणभक्ष, अक्षपाद-गौतमके शिष्योंसे प्रतिपादित असिद्धताका निवारण

'प्रमाणमें परस्पराविनिर्लुठितानेकधर्मपरिकरित वस्तुका ही प्रतिभासन होता है'—इस हेतुके असिद्धता आदि दोष कणभक्ष (कणाद), अक्षपाद (न्यायदर्शनके प्रवर्त्तक) के अल्पज्ञानी शिष्य भी नहीं निकाल सकते हैं, जो कि कहते हैं कि धर्मिधर्मभाव उन्हींमें होता है, जो परस्परमें एक दूसरेसे भिन्न-

वे उन अवयवोंसे भिन्न हैं, तो उनमें भी वे कैसे रहते हैं ? यह कहना चाहिये,—एकदेशसे कि समस्तरूपसे ? एकदेश पक्षमें वही बात फिरसे दुहरायी जायगी, और इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। (ब) अगर वे उनमें समस्तरूपसे ? रहते हैं, तो वह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येकमें पूरे-पूरे रूपसे रहनेमें संयोगादिबहुत्वका प्रसंग हो जायगा। और यदि संयोग आदि अपने अवयवोंसे अभिन्न हैं, तो उनमें (संयोग आदिमें) विकल्प (विचार) नहीं हो सकता है। कदाचित् तुम कहो कि—' संयोग आदिक संयोगी आदिकसे अभिन्न हैं, इस अभेदपक्षमें भी तो संयोग आदि मात्र रहेंगे या संयोगी आदि मात्र '—तो हमारा उत्तर यह है कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि हमने तो अभेदपक्षको भी एकान्तरूपसे स्वीकार नहीं किया है। तो फिर क्या स्वीकार किया है ? अन्य-अन्य, भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले इनको हम मानते हैं और विवक्षासे इनमें भेद भी दिखाया जा सकता है। ऐसे ही संयोग आदिक कुयुक्ति-विकल्पसे उत्थापित दूषणसमूहको निराकरण करनेमें समर्थ हैं। अबाधित प्रतिभासोंमें सर्वत्र उनका वैसा ही (भिन्नाभिन्न) प्रतिभासन होता रहता है। अन्यरूपसे जो प्रतिभासित हो रहे हैं, उनकी अन्यरूपसे परिकल्पना करनेपर दृष्टकी हानि-संयोगी आदिसे संयोग आदि कथञ्चिद्भिन्न हैं, यह दृष्ट है, इसकी हानि—और अदृष्टकी परिकल्पना-घट, पट आदिके समान संयोग आदिक सर्वथा भेदवाले हैं, ऐसा स्वप्नमें भी नहीं देखा गया है, सो इसकी परिकल्पनाके द्वारा असमञ्जसताकी प्राप्ति हो जायगी, और ऐसा होनेपर ब्रह्माद्वैत, शून्यवाद आदिकी सिद्धि होगी, क्योंकि इनमें और एकान्त अभेद तथा एकान्त भेदकी मान्यतामें कोई फ़र्क नहीं है।

(ii) सांख्यके द्वारा प्रतिपादित असिद्धताका निवारण

इस कथनसे कपिलके अनुयायी—सांख्यलोग—भी जो कि इस हेतुमें असिद्धता आदि दोष बतलाना चाहते हैं, चुपकर दिये जाते हैं। कैसे ? सो बताते हैं—भीतरी चीज़ एक संवेदनको लीजिये। वह भिन्न-भिन्न हर्ष, विषाद आदि अनन्त धर्मोंकी विवर्त-पर्यायसे आक्रान्त है। बाहरी चीज़ घटादिक अर्थको लीजिये। वह भी नया, पुराना आदि, गोल, पार्थिव आदि अनेक स्वभावोंसे युक्त है। इस प्रकार भीतरी और बाहरी दोनों प्रकारकी चीज़ोंको अनन्त धर्म या अनन्त स्वभावसे युक्त साक्षात् देखते हुए भी वे (सांख्य लोग) कैसे इससे विपरीत कथन करेंगे ? ' प्रकृति-पुरुषका बना हुआ एक द्रव्य (वस्तु) ही तात्त्विक-असली है, और विवर्त (हालत) अपारमार्थिक नकली है। इस विवर्तसे ही पर्यायकी भ्रान्तिका पता चलता है, '—ऐसा अगर कहो, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य और विवर्त (पर्याय) दोनों ही सर्व प्रमाणोंमें प्रकाशमान हैं, अबाधित हैं तथा सर्व व्यवहारमें कारण हैं, अतएव बिना पक्षपातके किसी एकका भी निह्नव (लोप) नहीं कर सकते हैं। अगर निह्नव कर सकेंगे, तो ' विवर्त ही तात्त्विक है और द्रव्य झूठा है, ' ऐसा पर्यायपक्षपाती भी कहेगा, तो उसका हम निषेध नहीं कर सकेंगे। और अगर ऐसा कहो कि—' द्रव्य सब जगह रहता है, अतः वह सत्य है, पर्याय सब जगह नहीं रहती हैं, अतएव असत्य हैं। '—यह बात भी ठीक नहीं है। यदि द्रव्य अभेदरूप होनेसे सब जगह रहता है, और पर्याय भेदरूप होनेसे (अलग हो जानेसे) उसमेंसे निकल जाती हैं, ऐसा मान भी लें, फिर भी द्रव्य सत्य है,

करनेवाले एक क्षणवर्ती कारणके भिन्न देशोंमें नाना कार्यकारिता है,'—तो ऐसा माननेमें आपके (बौद्धके) द्वारा नित्यपक्षमें जो दूषण दिया गया था, वही यहाँ आ जायगा। नित्यपक्षमें दिया गया दूषण यह था—एक कारणके भिन्न कालमें अनेक कार्योंके उत्पन्न करनेका स्वभाव मानोगे, तो विरुद्ध धर्मका अध्यास होनेसे उसमें 'अनेकान्त' हो जायगा। वैसा ही 'अनेकान्त' यहाँ भी आ जायगा। एक क्षणवर्ती कारणके जैसे एक कालमें नाना कार्य करते हुए भी एकपना ही है, वैसे ही भिन्नकालमें भी नाना कार्योंके करनेपर भी अनेकपना न होकर **एकपना** ही सिद्ध होगा। जब एकपना सिद्ध होनेका प्रसंग आ गया तब प्रतिभासभेदसे क्षणक्षयी रूपादिके स्वलक्षणत्वका स्वीकार भी निष्कारण हो गया, क्योंकि कूटस्थ द्रव्यके अन्दर भी अन्य-अन्य कारण-कलापोंके अंतर्गत होनेसे नई पुरानी आदि पर्याय तथा रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शके अवभासात्मक कार्यके संपादनमें कोई विरोध नहीं आयेगा। तथा यह **बौद्ध (सौत्रान्तिक)** अपने अवयवोंमें व्यापी, कालान्तरमें भी रह जानेवाले पदार्थके ऐसे आकारको साक्षात् देखता हुआ भी स्वलक्षणोंको क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाला और परमाणुरूप कहता है, अन्य तरहका नहीं कहता। अपनी समझसे वह जैसा स्वलक्षणोंका स्वरूप समझता है, वैसा स्वरूप स्वप्नान्तरमें भी नहीं देखा जाता। जब वह लक्षित वस्तुका तादात्म्य 'अलक्षित अंशके अभावके निराकरण'के साथ बतलाता है, तब अपने ही मुखसे वह अनेकान्तके अवभासका समर्थन करता है। कैसे? वही दिखाते हैं—स्वलक्षणमें यों परमाणुओंका वर्तुलत्व या परिमाण और प्रतिक्षण परिणमन (ये दोनों, स्वलक्षणमें अलक्षित हैं) दिखाई नहीं देता है, पर उसका स्वरूप स्थिर एवं स्थूल आदि रूपसे जाना जाता है। अगर इस रूपसे वह दिखाई न दे, तो यह जगत् सुषुप्त (निष्क्रिय) हो जायगा। और जब स्थिर और स्थूलरूपसे वस्तुका प्रकाशन नहीं होगा तब स्वलक्षणको अत्यन्त विलक्षण बतानेवाला जो प्रमाणान्तर है, उसकी भी अप्रवृत्तिका प्रसंग हो जायगा तथा **अर्थ** और **स्वरूपकी** अपेक्षासे बहिर्मुख और अन्तर्मुख, सविकल्प-अविकल्प, भ्रान्त-अभ्रान्त एवं प्रमाण-अप्रमाण आदि प्रतिभासवाले अन्तःसंवेदनको एक माननेवालेके 'अनेकान्त'का अवभास असिद्ध कैसे होगा? तथा बौद्ध ज्ञानको **एक** मानता है। उस (ज्ञान) को एक न माननेपर नानाकारसे उपरक्त पदार्थ (भाव) में युगपत् प्रकाशमान सित-असित (सफेद और काला) आदि अर्थकी व्यवस्थिति नहीं बन सकती है। इस तरह ज्ञानमें भी आकारभेद होता है। ऐसी हालतमें वह नाना देशोंमें स्थित अर्थसमूहसे समर्पित (प्रदत्त) आकारसे विशेषित है। ऐसा माननेपर भी वह भिन्न समयमें होनेवाले हर्ष विषाद अनेक परिणमनके वशसे संवेदनके अभेदको सर्वथा (एकान्तरूपसे) कैसे कहेगा? यहाँ भी तो स्वयं संवेदनमें ही हर्ष, विषाद आदि भिन्न-भिन्न समयमें **भेद** हो जाते हैं। जैसे बाह्य आकारकी अपेक्षासे ज्ञानमें भेद होनेसे उसे, मूलमें ज्ञानपने की अपेक्षासे एक होनेपर भी, **अनेकत्व**—नानात्व है, वैसे ही यहाँ भी स्वयं संवेदनमें भी भिन्न-भिन्न समयमें—नानाकार जैसे हर्ष, विषाद आदि होते हैं, उनसे वह **अनेक** या नाना है। इस तरह नानात्व और एकत्वके विषयमें **नाना देश** और **भिन्न समयमें** एक ही योग और क्षेम कार्य कर रहा है। कहो कि—युगपद्भावी संवित्के भीतर निविष्ट आकारोंको एकत्व है, हर्षादिकोंको नहीं, क्योंकि वे भिन्न कालमें होते हैं,—तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि संवित्के भीतर निविष्ट सित-पीतादि आकारोंकी सामर्थ्यसे जो व्यवस्थाप्य अर्थ है, उसके ऐक्यका प्रसंग हो जायेगा; क्योंकि आकारोंकी एकतासे सित, पीत आदि

वह यों कि–तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिको ही मुक्तिका लक्षण माना है और आपके अभिप्रायसे तत्त्व 'ज्ञानाद्वैत' ही है, सो उसको माननेवाले आप सबको मुक्ति हो जानी चाहिये, लेकिन हम तो आपको मुक्त नहीं, किन्तु संसारी देख रहे हैं। पर **किसी अपेक्षासे** संवेदनकी अद्वयता लक्षित भी होती है; अगर लक्षित न हो तो सुषुप्तदशाके समान सर्व व्यवहारके उच्छेदका प्रसंग हो जायगा। इस प्रकार एक भी संवेदनके **लक्षित** और **अलक्षित** दो रूप होनेसे अनेकान्तका प्रतिभास छिपा नहीं सकते हैं। इस तरह **ज्ञानवादीको** भी इस हेतु (परस्परमें अभिन्न अनेकधर्मोंसे युक्त वस्तुका ही प्रमाणमें प्रतिभासित होना) की असिद्धताके आविर्भावनमें चुप होना पड़ता है।

(३) शून्यवादीको अनेकान्तकी उपपत्ति

शून्यवादी कह सकता है कि समस्त धर्मका अभाव होनेसे अनेकान्तका प्रकाश असिद्ध है। लेकिन उसके भी, पहले तो यह समस्तका अभाव ही नहीं बनता है, क्योंकि समस्तका अभाव सिद्ध करनेवाले **प्रमाण** और **प्रमेयको** वह मानता नहीं है। यदि समस्तका अभाव सिद्ध करनेवाले **प्रमाण** और **प्रमेयको** वह मानता नहीं है और फिर भी अपनी सबके अभाव माननेकी मान्यता रखता है, तो 'सब जगह सब वस्तु प्रमाणपूर्वक है', ऐसा जो दूसरा कोई सांख्य वगैरः कहेगा, तो उसका भी वदनभङ्ग (मुखभङ्ग) नहीं किया जा सकता है। और यदि प्रमाण और प्रमेयको शून्यवादी स्वीकार करता है, तो समस्तके अभावोंकी मान्यतामें क्षति होगी। तथा प्रमाण-प्रमेय में जैसा पहले दिखाया गया है, अनेकान्तका प्रकाश है, इसलिए हमारा हेतु (प्रमाणमें अनेकान्तात्मक वस्तुका प्रतिभासित होना) असिद्ध नहीं है।

II. अनेकान्त-साधक हेतुमें अनैकान्तिक हेत्वाभासका निराकरण

मरुस्थलमें बालूके ढेरमें होनेवाले जलके ज्ञानमें जलका उल्लेख होनेपर भी **जलके न होनेसे** 'यह हेतु' **अनैकान्तिक** है, अर्थात्, 'वस्तुके (जलके) अप्रकाशक अप्रमाणभूत ज्ञान (विपरीत ज्ञान) में भी यह हेतु (अनेकान्तात्मक वस्तुका ही प्रमाणमें प्रतिभासन होना) रहता है।'—ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि मरुस्थलमें बालूके ढेरमें **जल समझनेवाला ज्ञान** भ्रान्त है, और हम 'अभ्रान्त' ज्ञानको प्रतिभासमान अर्थके ग्रहण करनेमें कारण मानते हैं। अगर ऐसा कहो—यह अभ्रान्त ज्ञान भी (जो कि स्थिर स्थूल आदि पदार्थको ग्रहण करता है) "परमाणु परस्परमें अलग-अलग हैं तथा क्षणक्षयी हैं," इस ज्ञानसे बाध्यमान होनेसे भ्रान्त है,—तो यह अयुक्त है, क्योंकि यह जो क्षणिकत्व-बोधक ज्ञान है वह क्या खाली **उपलब्धि** (दर्शन) है, या **निर्णय** है? (१) **यदि दर्शनमात्र** है, तो क्षणिकत्वका साधक अनुमान निर्विषय हो जायगा, और निर्विषय यों हो जायगा कि अनुमानसे ही बौद्धलोग क्षणिकत्वका साधन करते हैं, अब वह काम दर्शन ही करने लगा तो अनुमानका कोई विषय ही नहीं रहा। उसके निर्विषय होनेसे वह व्यर्थ हो जायगा। निर्विकल्पक स्पष्ट दर्शनसे भी संपूर्ण रूपसे वस्तुका ग्रहण तुम लोगोंने इस डरसे किया है कि एक ही वस्तुके दर्शनसे उसका **नीलत्वादि** तो ग्रहण कर लिया जाता है और **क्षणिकत्वादि** नहीं, ऐसा विरोध

भ्रान्त नहीं है। दूसरे यह कि, जो इस निर्णयको भ्रान्त कहता है वह सर्व प्रमाण-प्रमेयकी व्यवस्थाका उन्मूलन करता है। कैसे वही बताते हैं;—जो संवेदन यथासंभव अन्तर्बहिर्गत सत्त्व, बोधरूपत्व, सुखत्व और नीलत्वादिमें **प्रमाण** है,—क्योंकि जो जिसके व्यवस्थापनमें हेतु है वह उसमें प्रमाण है, ऐसी प्रमाणकी व्यवस्था है, और यह संवेदन ही है जो उनका विकल्पोत्थापनके द्वारा व्यवस्थापक है,—वही संवेदन क्षणक्षयित्व, स्वर्गप्रापणशक्तियुक्तत्व आदिमें **अप्रमाण** है, क्योंकि क्षणक्षयित्व आदि विषयमें विकल्पके उत्थापनका अभाव है। तथा जो वस्तु नीलता, चतुरस्रता, अर्ध्वता आदि रूपसे **प्रमेय** है वही मध्यभाग, क्षणविवर्त आदिसे **अप्रमेय** है, तथा जो बहिरर्थकी अपेक्षासे सविकल्पक या स्वप्नादि-दर्शन **भ्रान्त** है, वही स्वरूपकी अपेक्षासे **अभ्रान्त** है, तथा जो चन्द्रद्वय आदिक द्वित्वमें **अलीक** है, वह भी धवलता, नियतदेशचारिता आदिकमें **अनलीक** है, ऐसा निर्णय है। यदि उपर्युक्त विरोधसे डरकर आपके द्वारा इस अनेकान्तके प्रकाशका अपह्नव होगा, तो कौनसे दूसरे ऐकान्तिक प्रमाण और प्रमेयको स्वीकार करके आप अपने अभिप्रायकी प्रतिष्ठापना करेंगे ? इस बातको जाननेके लिये हमारा चित्त सकौतुक है। अगर **ज्ञानवादी बौद्ध** यह कहेगा कि 'हम अलक्षित अद्वैत प्रकाशको स्वीकार करते हैं और उस अद्वैत ज्ञानसे नानाप्रकारताको धारण करनेवाला बोध बाध्यमान होनेसे भ्रान्त है'—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे जो बोधकी नानाकारता दीख रही है, उसकी हानि और जो बोधका अद्वयपना दीख नहीं रहा है उसकी कल्पनाका प्रसङ्ग हो जायगा। अलक्षित निर्विकल्प दर्शनका तो पहले ही प्रतिक्षेप कर दिया है। अगर कहो—'बोधकी विविधता युक्तिसे बाधित होती है। कैसे ? देखो, यह संवेदन भ्रान्त है, और अमुक संवेदन अभ्रान्त है, ऐसा विवेक तो किया नहीं जा सकता है। संविन्मात्र सब जगह अव्यभिचारी है, इसलिए अद्वयसंवेदन विविक्त (स्पष्ट) युक्तिसे प्रकाशमान होता हुआ सित-असित आदि विविध प्रतिभासका निराकरण करता है। यह सित-असित आदि प्रतिभास अनादिकालीन वासनासे समुपजनित संवृतिसे ही मालूम पड़ता है, अन्यथा नहीं।'—इसका अब खण्डन करते हैं।

क्या यह अनेकाकार बोध अद्वयसंवेदनसे **भिन्न** है या **अभिन्न** ? [अ] यदि इससे यह **भिन्न** है, तो यह अनेकाकार बोध अद्वयसंवेदनका कार्य तो नहीं देखा गया है, तब उससे व्यतिरिक्त हो करके यह अद्वयसंवेदनका अनुमापन कैसे करेगा ? क्योंकि कदाचित् अद्वयसंवेदनका यह कार्य होता तो अद्वयका अनुमान भी कराता। और भी [ब] यदि अनेकाकार बोधको अद्वयसंवेदनसे **अभिन्न** मानते हो, तो अनेक होकर एकसंवेदनके साथ तादात्म्यरूपसे प्रसिद्ध होकर कैसे अद्वैतको नष्ट नहीं करेगा। यदि इसके उत्तरमें ऐसा कहो—'यह अनेकाकार बोध सित-असित आदि आकाररूप बहिर्मुख कालुष्यसे युक्त है, अतएव संवृति (कल्पना) से दर्शित होनेसे अलीक है, तब तात्त्विक बोधके साथ उसकी भेद या अभेद विकल्पकी उपपत्ति नहीं हो सकती।'—तो दूसरा जो कोई यह कहेगा कि अविद्यासे दर्शित होनेसे **बोधको** अपारमार्थिकपना है और **अर्थसत्ताको** तत्त्वरूपता है, क्योंकि उसमें कहीं भी व्यभिचार नहीं आता, तो इसका निवारण नहीं कर सकेंगे। 'जड़में तो प्रकाश नहीं हुआ करता, इसलिए संवित्ति सत्य है, अर्थ नहीं,'—अगर ऐसा कहो, तो हम भी कहेंगे कि जो एक है उसके अनेकताका अवभास नहीं हुआ करता, इसलिए अनेकान्त सत्य है, अद्वैत नहीं। 'संवृति-कल्पनासे अद्-

जाग्रत् ज्ञानके विषयभूत अर्थका समर्थन क्यों नहीं करते हो ? यह कौनसा अर्धजरतीय न्याय[1] हुआ ? [व] अगर हमारा स्वीकृत **अप्रमाण** है, तो स्वप्नज्ञानकी निरालम्बनताका साधक कोई दूसरा प्रमाण तलाश करना चाहिये। प्रमाणसे निर्णीत अविसंवादरूपमें इस कुश और काश (एक प्रकारकी घासें) के अवलम्बनसे क्या प्रयोजन ? उस प्रमाणान्तरमें भी—जो कि तलाश किया जायगा—वही निर्दोष विकल्पयुगल अवतरित होता है—कि वह प्रमाणान्तर **निरालम्बन** है कि **सालम्बन** ? अगर निरालम्बन है, तो अन्यज्ञानकी निरालम्बनता नहीं बता सकते, क्योंकि उसका (निरालम्बन प्रमाणान्तरका) कोई विषय नहीं है। यदि सालम्बन है, तो खेदके साथ कहना पड़ता है कि तुम झूठे पड़ गये, क्योंकि सालम्बन माननेसे 'सारे ज्ञान निरालम्बन हैं' इस प्रतिज्ञातकी क्षति होती है, क्योंकि उसमें इसीसे (प्रमाणान्तरकी सालम्बनतासे) व्यभिचार आता है। इस तरह शठको प्रतिशठके आचरणसे दबाना चाहिये। इसलिए इसको (अनेकान्तद्योतक प्रमाणको) अनैकान्तिकपना नहीं है।

III. 'विरुद्ध' हेत्वाभासका निराकरण

जब अनैकान्तिकपना नहीं है तब **विरुद्धताकी** आशंका तो दूरसे ही भाग जाती है, क्योंकि प्रमाण-प्रकाशित अर्थमें सर्ववादियोंके उसतरहके माननेमें कोई दोष नहीं है।

IV इस हेतुमें संशयादि दोषोंका भी निराकरण

उपर्युक्त कथनसे १. **संशय**, २. **विरोध**, ३. **अनवस्था**, ४. **वैयधिकरण्य** और ५. **असंभव** तथा ६. **प्रत्यक्षादिबाधारूप** दूषण, ज्ञानरूपी मुद्गरसे उनका मस्तक छिन्न-भिन्न हो जानेसे जीनेका साहस नहीं कर सकते हैं। ये दूषण निर्मूलक मिथ्या विकल्पसे उत्थापित हैं।

संशयादि दूषणोंका स्वरूप

संशयादि दूषणोंको थोड़ेसेमें यहाँ बताना कुछ अप्रासङ्गिक न होगा। १ वस्तुको नित्य-अनित्य आदि अनेक धर्मवाली स्वीकार करनेपर 'यह वस्तु **नित्य** है और **अनित्य** भी,' इस प्रकार किसी एककी निश्चयपूर्वक निर्णीतिका अभाव होनेसे **संशय** होता है। २ तथा जो ही वस्तु नित्य है वही अनित्य है, यह **विरोध** है, क्योंकि नित्य और अनित्य परस्परके परिहारपूर्वक रहते हैं। और यदि नित्य अनित्यरूपसे तथा अनित्य नित्यरूपसे व्यवस्थित हो, तो नित्यत्व और अनित्यत्वमें कोई विशेषता न होनेसे प्रतिनियत व्यवहारका उच्छेद हो जायगा। ३ तथा जिस अंशसे नित्य है उस अंशसे क्या (A) **नित्य ही है**, या उस अंशसे भी (B) **नित्य या अनित्य** है। इनमेंसे यदि (A) आद्य पक्ष मानोगे, तो अनेकान्तकी क्षति हो जायगी। (B) द्वितीय पक्ष मानोगे तो फिर भी जिस अंशसे नित्य है, क्या उस अंशसे (A) **नित्य ही** है, या उस अंशसे भी (B) **नित्य या अनित्य** है, ऐसी **अनवस्था** आ जायगी। ऐसे ही अनित्यपक्षमें भी यह सब लगाना। उसमें भी अन्तमें **अनवस्था** हो जायगी। ४ तथा

---

१ किसीकी आधी बातको मानना और आधीको नहीं मानना, इसका नाम है 'अर्धजरतीय न्याय'।

नहीं जाता है। वह उसका अंशभूत ही है और प्रमाण भी आखिरकार नयके समुदायसे संपाद्य है, अतः प्रमाणका व्युत्पादन प्रतिज्ञात होनेपर, इसके (नयके) उसके मध्यमें आजानेसे उसके (प्रमाणके) ग्रहणसे इसका भी ग्रहण हो जाता है, इस न्यायसे वह गृहीत ही है, अप्रस्तुत नहीं है। नयके विषयमें भी पदार्थ तो वही है जो प्रमाणमें है, केवल आशय (वाक्यके अर्थ) का भेद है। शंकाकार फिर शंका करता है कि–यदि नयके प्रमाणके भीतर आजानेपर भी उसका विषय पृथक्से प्रतिपादन करोगे, तो प्रमाणके ही समान, नयविषयक लक्षणादिकी विप्रतिपत्ति भी निराकरण करनी चाहिये । **टीकाकार** उत्तर देते हैं कि शंका ठीक है, लेकिन और दर्शनोंमें नयका व्यवहार प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए धर्मी (नय)के अभावसे तद्विषयक विप्रतिपत्ति है ही नहीं । दूसरी बात है कि नयसे तत्त्वका प्रतिपादन भी नहीं हो सकता है। तत्त्वप्रतिपादनमें प्रमाणका ही व्यापार होता है। नय तो वस्तुके एकदेशनिष्ठ है, इसलिए तत्त्वके प्रतिपादनकी सामर्थ्यसे विकल है। इस कारण आचार्यको तो उसके लक्षण आदिके स्वरूपके कथनमें भी कोई बड़ा भारी आदर नहीं है। और जो इसके विषय (गोचर) का प्रतिपादन किया है, उसे काकु (प्रश्न) के द्वारा हेयपक्षमें शामिल किया है तथा साक्षात् कहते हैं कि जैनदर्शनको माननेवालोंमें भी जो मूर्ख लोग हैं, ये प्रमाणसे प्रतिपन्न भी अनेकान्तात्मक वस्तुमें एकदेशके समर्थनके अभिनिवेशरूप कदाग्रह नहीं रक्खें। अथवा जैनोंके प्रति नयके विषयका कथन उपलक्षण है। अतः यहाँ उसके लक्षणादि भी बतलाये देते हैं। 'प्रमाणसे जाने गये अर्थका एकदेश जानना' सो **नय**का लक्षण है। यह लक्षण जितने नयविशेष हैं, उन सबमें जाता है और वह पररूपोंके हटानेमें भी समर्थ है। इनकी संख्या अनन्त है, क्योंकि वस्तुमें अनन्त धर्म होते हैं, और उसके एकदेश रूप धर्मकी जो पर्याय उससे जो हमारे अभिप्राय निश्चित होते हैं उनका नाम **नय** है, तो भी **प्राचीन आचार्योंने** सबको संग्रह करनेवाले सत्ताके अभिप्रायोंकी परिकल्पनाके द्वारा **सात** नय प्रतिपादन किये हैं। जैसा कि कहा है:—"नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द समभिरूढ और एवम्भूत ये नय हैं।" [तत्त्वार्थसूत्र, १. ३३] अतः हम (**टीकाकार सिद्धर्षिगणि**) भी उन्हींका उल्लेख करेंगे। इनमें सर्व अभिप्राय कैसे आ जाते हैं? सो कहते हैं। अभिप्राय किसी दूसरेको दो ही तरहसे प्रकट कर सकते हैं, या तो **अर्थद्वारा** या **शब्दद्वारा**, इससे दूसरा उसके प्रकट करनेका कोई उपाय नहीं है। और अर्थ भी सामान्यरूप या विशेषरूप होता है; शब्द भी रूढि या व्युत्पत्तिसे प्रवर्तित होता है, और व्युत्पत्ति भी सामान्य निमित्तसे प्रयुक्त या तत्कालभावी निमित्तसे प्रयुक्त होती है। इनमेंसे जो कोई प्रमाताके अभिप्राय रूप अर्थके निरूपणमें प्रवण हैं, वे सब आदिके चार नयोंमें अन्तर्भूत होते हैं। इनमेंसे भी जो परस्परमें विभिन्न (विशकलित) ऐसे सामान्य और विशेषकी इच्छा करते हैं, तत्समुदायरूप **नैगम** है। जो केवल सामान्यकी इच्छा करते हैं, उनके समूहसे संपाद्य **संग्रह** है। जो शास्त्रीय सामान्य-विशेषकी विना अपेक्षा किये, लोक-व्यवहारमें काम आनेवाले घटादिक पदार्थकी कामना करते हैं, उनके समूहसे जन्य **व्यवहार** है। जो सौगत क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले परमाणुरूप विशेष सत्य हैं, ऐसा मानते हैं, उनके संघातसे घटित **ऋजुसूत्र** है। तथा जो मीमांसक रूढिसे शब्दोंकी प्रवृत्तिको चाहते हैं, उनके समूहसे साध्य **शब्द** है। जो व्युत्पत्तिसे ही शब्दोंकी प्रवृत्तिको मानते हैं, और तरह नहीं मानते, उनसे जन्य **समभिरूढ** है। और जो वर्तमानकालमें होनेवाली व्युत्पत्तिको

अभाव हो जायगा। और न सामान्य अथवा विशेषका तिरस्कार (उपेक्षा) करके **खाली विशेष या सामान्यका** अभ्युपगम करना ठीक होगा, क्योंकि दोनों ही स्वग्राही ज्ञानमें प्रतिभासमान होते हैं। इस कारण, उनमें कोई विशेषता नहीं है। इसलिए ये दोनों ही परस्परमें विभिन्न (विशकलित) स्वीकार करने योग्य हैं। यह नैगम नयका वर्णन हुआ।

२. संग्रह नयका निरूपण

अब संग्रहका अभिप्राय वर्णन किया जाता है। जो संग्रह करता है वह **संग्रह** है। 'संग्रह' करनेका अर्थ हुआ संपूर्ण विशेषोंके अग्रहण पूर्वक सामान्यरूपसे जगत्का ग्रहण करना। **संग्रहवादी**का सिद्धान्त है कि सब एक हैं, सत् रूपसे समान होनेसे। वह तर्क करता है—भावलक्षण सामान्यसे विशेष **अलग** हैं कि **एक** हैं? इन दोके सिवाय तीसरा विकल्प उठ नहीं सकता है। (१) इनमेंसे यदि आद्यपक्ष मानते हैं, तो विशेष निःस्वभाव स्वीकार करने पड़ेंगे, आकाशकुसुम आदिके समान, **भाव (सत्ता) से भिन्न होनेसे**। (२) यदि द्वितीय कल्प (पक्ष) मानते हो, तो वे विशेष भावमात्र हो जायेंगे। कैसे? इस तरह—विशेष भावमात्र हैं, **भावसे अभिन्न होनेसे**; इस लोकमें जो जिससे अभिन्न होता है वह वही होता है, जैसे भावका ही स्वरूप; विशेष भावसे अभिन्न हैं, अतः तद्रूप ही हैं। **शंकाकार** शंका करता है—यदि भावमात्र ही तत्त्व है, तब वह तो सब जगह समान है, अतः जो ये प्रत्येक प्राणीमें खम्भा, हाथी, घड़ा, कमल आदि विशिष्ट वस्तुओंसे होनेवाले व्यवहार प्रसिद्ध हैं, वे सब नष्ट हो जायेंगे, अतः विशेषको स्पष्ट व्यवहारके कारण स्वीकार करना चाहिये।—ऐसी बात नहीं है, व्यवहार भी अनादिकालीन अविद्या (अज्ञान) के वशसे प्रवर्तित है, इसलिए उसके साथ पारमार्थिक प्रमाणसे प्रतिष्ठित तत्त्वके प्रतिबन्ध (संबंध, व्याप्ति) का अभाव है। दूसरी बात यह है कि विशेषका आग्रह बिलकुल ही त्यागने योग्य है, **विशेषके व्यवस्थापक प्रमाणका अभाव होनेसे**। वही दिखाते हैं—विशेष भेदरूप हैं, लेकिन कोई भी प्रमाण भेदको विषय नहीं करता है। सबसे पहले प्रत्यक्षको लो। उसकी तो सत्ता ही भावसे संपादित होती है, इसलिए वह भावका ही साक्षात्कार कर सकता है, अभावका नहीं, क्योंकि अभावमें कोई शक्ति नहीं है, इसलिए उसके उत्पादनमें कोई व्यापार नहीं है। जो उत्पादक नहीं है उसका भी यदि साक्षात्कार किया जायगा, तो सबके साक्षात् करनेका प्रसङ्ग आ जायगा। तब कुछ विशेषता न होनेसे जितने द्रष्टा हैं वे सर्वदर्शी हो जायेंगे। और यह **आपको** अनिष्ट भी होगा, अतः भावका ग्राहक ही उसे मानना चाहिये। और वह भाव सब तरह ही समान (उपलब्ध) है, इस कारण उसी तरहसे उसके (प्रत्यक्षके) द्वारा ग्राह्य है, उसके उत्तर कालमें होनेवाला 'यह घड़ा है, कपड़ा आदि नहीं है।' इस आकारका विकल्प यद्यपि व्यवहारकी रचना करता है, किन्तु वह अविद्यामूलक होनेसे प्रमाण नहीं है। इसलिए प्रत्यक्षसे विशेषका ज्ञान नहीं हो सकता है। और न अनुमानादिसे ही विशेषका ज्ञान हो सकता है, क्योंकि शेष प्रमाणवर्ग प्रत्यक्षमूलक है। इसलिए सामान्य ही परमार्थ हुआ, विशेष नहीं। यह संग्रहका वर्णन हुआ।

पारमार्थिक स्वलक्षण नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्रमाणसे अर्थकी व्यवस्था होती है और प्रमाण देश एवं कालकी व्याप्तिके ग्रहणमें कुछ भी व्यापार नहीं करता है। एकका अनेक अवयवोंमें रहना देशव्याप्ति है, और इसीको स्थूलत्व कहा है और एकका अनेक क्षणोंमें रहना कालव्याप्ति है, और इसीको स्थिरत्व कहा है। इनमेंसे कालव्याप्ति अनन्तर होनेके कारण संनिहित होनेसे या और किसी तरह अर्थकी प्रकाशिका है। जितने प्रमाण हैं वे सब वर्तमानका ही प्रकाश करते हैं। इसका यह तात्पर्य हुआ कि परिच्छेदक (ज्ञायक) प्रमाण एकक्षणवर्ती ही है, इसलिए उससे परिच्छिद्यमान अर्थ भी अपने एक क्षणमें रहनेवाला ही जानने योग्य है, पीछे और आगेके क्षणमें रहनेवाला नहीं, क्योंकि जिस कालमें परिच्छेदक प्रमाण है, उसमें अर्थ नहीं और जिस कालमें अर्थ है उसमें परिच्छेदक प्रमाण नहीं है। सर्व प्रमाण वर्तमान प्रकाशरूप इस तरह हैं—प्रत्यक्षका जन्म **रूप, आलोक, मनस्कार** (मनका उपयोग) और **चक्षु**, इन चारके द्वारा होता है और वर्तमान क्षणमें ही वह प्रकाशित होता है, अतीत और भावी क्षणमें वह सन्निहित नहीं है, इसलिए वह इसी कालमें संबद्ध ही[1] वस्तुके रूपको साक्षात् कर सकता है, पूर्व या आगेके क्षणसे संबद्धका नहीं, क्योंकि उसमें उसका संनिधान नहीं है। नष्ट होकरके भी यदि वह विनष्ट भी पूर्वक्षणवर्ती रूपका आकलन (ग्रहण) करेगा, तो विनष्टपना समान होनेसे निरवधि क्षणकी परम्परा उसमें प्रतीत होगी। ऐसा होनेपर संकलिकासे (जोड़ लगानेकर) **अनादि जन्मोंकी परम्पराको ग्रहण करनेवाला प्रत्यक्ष हो जायगा।** ऐसा ही अनागतक्षणके ग्रहणमेंभी लगाना। लेकिन यह सब इष्ट नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष वार्तमानिक क्षणके ग्रहण करनेमें ही कुशल है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

---

१. प्रत्यक्षको जो वर्तमानकालपरिगत वस्तुका ग्राहीपना है, वह **वैभाषिक**के अभिप्रायसे है, क्योंकि वस्तुका लक्षण क्षणक्षय आदि से अवस्थितपना है। अगर ऐसा (वस्तुको क्षणिकत्व) नहीं होगा, तो चक्षुरिन्द्रियसे संनिकृष्ट अर्थसे उत्पन्न होनेवाले द्वितीयक्षणभावी ज्ञानके प्राक्क्षणवर्तीरूपका ग्राहक होनेसे, वर्तमान वस्तुका ग्राहकपना नहीं होगा। **सौत्रान्तिक**के अभिप्रायसे वस्तुसे उत्पन्न ज्ञानमें जो ग्राह्याकार रूप है, उसीका साक्षात्कार किया जा सकता है। 'वस्तुसे दिये गये (आहित) आत्मगत आकारको प्रत्यक्ष जानता है'—ऐसा सौत्रान्तिकोंका सिद्धान्त है, जैसा कि तद्वादी कहते हैं—

"**वैभाषिक** ज्ञानसे युक्त अर्थ होता है ऐसा कहता है, और **सौत्रान्तिकोंने** प्रत्यक्षको बाह्य वस्तुमें फैलनेवाला, अर्थात् बाह्य वस्तुको जाननेवाला नहीं माना है। **योगाचार** साकार ज्ञानको उत्कृष्ट मानता है और **मध्यम या माध्यमिक** ग्राह्य-ग्राहक आकारसे रहित स्वच्छ ज्ञानको ही उत्कृष्ट मानते हैं॥"

इनमेंसे सौत्रान्तिक और योगाचार शब्दका अर्थ पहले बता दिया है। **वैभाषिक** और **मध्यम** शब्दका अर्थ इस प्रकार है। सौत्रान्तिक आदिकी अपेक्षासे 'चार क्षणतक ठहरनेवाली वस्तु होती है,' इत्यादि विरुद्ध भाषण, इसका नाम विभाषा, वह जिसका प्रयोजन सो **वैभाषिक**। **प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें** 'विभाषा सद्धर्मप्रतिपादक ग्रन्थ विशेष है, उसको जो जानते या पढ़ते हैं वे **वैभाषिक** हैं,' ऐसा कहा है। तथा मध्यमें होनेवाला सो मध्यम। पूर्व और उत्तर क्षणको नहीं छूनेवाला निराकारजो ज्ञानक्षण वह मध्यम है और इसका समर्थन करनेवाले जो वादी हैं वे भी मध्यम हैं। माध्यमिक शब्दतो ऐसे बना है—मध्यम क्षणसे जो चलते हैं, या 'मध्यम' नामका कोई खास आर्य पुरुष, उसका दर्शन सो मध्यम, वह जिनका प्रयोजन है वे **माध्यमिक** कहलाये।

परस्परमें अलग-अलग परमाणु ही परमार्थसे हैं, ऐसा ऋजुसूत्रका विषय हुआ। एक संग्रहश्लोकमें कहा भी है—

" ऋजुसूत्र नयका विषय शुद्ध पर्यायके आश्रित है, क्योंकि स्थितिसे रहित नश्वर भाव ही पाया जाता है। "

शब्दादि तीन नयोंका साधारण रूपसे निरूपण

उपर्युक्त अर्थस्वरूपके निरूपणमें निपुण नयोंका मत वर्णन किया, अब शब्दके विचारमें चतुर नयोंका वर्णन किया जाता है—तीनों ही शब्द आदि नयोंका यह साधारण अभिप्राय है कि **शब्द ही परमार्थ (वास्तव) है अर्थ नहीं**, क्योंकि अर्थ शब्दसे भिन्न नहीं है। 'वस्तुकी सिद्धि तो अलगसे होती है, इसलिए शब्दसे अर्थ अभिन्न कैसे है?'—ऐसा पूछनेपर **शब्दब्रह्मवादी** उत्तर देते हैं कि हम इस बातको प्रमाणपूर्वक कहते हैं। कैसे? सो ही दिखाते हैं:—शब्दसे अर्थ भिन्न नहीं है, **शब्दकी प्रतीति होनेपर अर्थके प्रतीयमान होनेसे** इस संसारमें जिसके प्रतीत होनेपर जिसकी प्रतीति होती है वह उससे अभिन्न होता है, जैसे शब्दके प्रतीयमान होनेपर उसका ही स्वरूप। शब्दके प्रतीयमान होनेपर अर्थ प्रतीत होता है, अतः वह उससे अभिन्न है। कोई कहेगा कि—जिसको शब्द और अर्थका संकेत नहीं माछ्म है ऐसे पुरुषके घट शब्दके सुननेपर भी घटकी प्रतीतिके न होनेसे शब्द अर्थसे भिन्न हैं,—तो ऐसे तो विषमें मारनेकी शक्ति है ऐसा जिसको नहीं माछ्म है, उसके लिये उसकी मारनेकी शक्ति उससे भिन्न हो जायगी, लेकिन ऐसा तो होता नहीं है। विष और उसके मारनेकी शक्तिमें जो अभेद है, उसमें यदि विशेषता नहीं होगी, तो गुड़के टुकड़ेके समान उन दोनोंमें परस्परमें भेद होनेसे विषको भी अमारकत्वकी आपत्ति आ जायगी। 'और भिन्नके साथ संबंध नहीं हो सकता है,' इस बातका हम पहले ही खण्डन कर आये हैं। इसलिए मूर्ख प्रमाताके दोषसे वस्तुको विपरीतपना नहीं है। अगर उसके दोषसे वस्तुका विपरीतपना होगा, तो अन्धा रूपको नहीं देखता है, इस कारण उसका (रूपका) अभाव भी मानना पड़ेगा। कोई पुनः कह सकता है कि जो अर्थ विना शब्दवाले हैं उनके वस्तुत्वकी सिद्धि तो शब्दसे अलग होकर ही होगी,—सो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि विना शब्दका अर्थ ही नहीं है; केवल इतना ही फर्क है कि कोई अर्थ विशेष शब्दोंसे कहे जाते हैं, कोई सामान्य शब्दोंसे। अथवा, 'सकल अर्थोंके कहनेवाले विशेष शब्द नहीं हैं,' इसमें कोई प्रमाण नहीं है। बल्कि इसके उल्टे 'सभी अर्थ अपना-अपना वाचक रखते हैं, क्योंकि वे अर्थ हैं, जैसे घटरूप अर्थ अपना वाचक रखता है,' यह अनुमान इसमें प्रमाण है। सभी अर्थके अपना-अपना वाचक होनेसे, पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार अर्थकी शब्दसे अपार्थक्य (अभिन्नता) की सिद्धि है। इसलिए वास्तवमें अर्थ शब्दसे व्यतिरिक्त नहीं है, फिर भी लौकिकजन जिन्होंने कि परमार्थका विचार नहीं किया है, उपचारसे अर्थका शब्दसे भिन्न भी व्यवहार करते हैं। यह अर्थ चाहे उसे औपचारिक (भिन्न) या शब्दात्मक कहो, प्रतिक्षणभंगुर मानना चाहिये, क्योंकि वर्णोंकी क्षणध्वंसिताकी प्रतीति होती है और ऋजुसूत्र नयमें प्रतिपादित युक्तियोंसे भी यही सिद्ध होता है।

क्योंकि वे [पर्याय शब्द] अलग-अलग अपनी-अपनी व्युत्पत्तिमें निमित्त होते हैं; इस लोकमें जो-जो अलग-अलग व्युत्पत्तिके निमित्त होते हैं, वे भिन्न अर्थवाले होते हैं, जैसे इन्द्र, घट, पुरुष आदि शब्द; पर्याय शब्दभी विभिन्न व्युत्पत्तिमें निमित्त होते हैं; इस लिए भिन्न अर्थवाले हैं। और जो अविचारित प्रतीतिके बलसे उनको एक अर्थका अभिधायकपना प्रतिपादित किया जाता है वह अयुक्त है, क्योंकि इसमें अतिप्रसंग आता है। कैसे ? सो ही दिखाते हैं—यदि युक्तिरिक्त प्रतीतिको ही शरण लेते हो, तो मन्द मन्द प्रकाशमें दूर देशमें अपने-अपने शरीरसे विभिन्न भी नीम, कदम्ब, अश्वत्थ और कपित्थ आदि एक तरुकी आकारताको धारण करते हुए प्रतीत होते हैं, इस कारण वे एक रूपसे ही स्वीकार करने योग्य होंगे। लेकिन ऐसा है नहीं, क्योंकि एक तरुके आकारकी पूर्वप्रतीति, भिन्न-भिन्न रूपसे उनके स्वरूपको ग्रहण करनेवाले उससे उल्टे ज्ञानसे बाधित होनेसे अलग-अलग ही उनको स्वीकार किया जाता है। इसलिए ध्वनियाँ एक अर्थको कहनेवाली नहीं हैं। रही रूढ़ि, सो वह तो उन्हीं लोगोंके लिये है जिन्होंने शब्दोंके अर्थका विचार नहीं किया है। यह समभिरूढ़ नयका वर्णन हुआ।

७. एवम्भूत नयका निरूपण

अब एवम्भूतका अभिप्राय प्रतिपादन करते हैं—'एवं' शब्दका अर्थ होता है प्रकार। इस लिए 'एवं' जैसा व्युत्पादित है उस प्रकारको 'भूतः' प्राप्त जो शब्द है वह **एवम्भूत** है। उसके समर्थनमें प्रधान जो अभिप्राय है वह भी एवम्भूत है, क्योंकि वह अभिप्राय एवम्भूत शब्दको विषय करता है। विषय शब्दसे यहाँ विषयी जो अभिप्राय, उसका कथन है। अथवा, जिस **क्रियासे** विशिष्ट वस्तु शब्दके द्वारा कही जाती है उस क्रियाको करनेवाला नय भी **एवंभूत** है। तथा जो चेष्टा आदिक प्रकार 'एवं' शब्दसे कहा जाता है, उस एवंको 'भूत' याने प्राप्त जो अभिप्राय है वह **एवंभूत** है, क्योंकि इस नयके द्वारा तद्विशिष्ट ही वस्तु स्वीकार की गयी है। इस पक्षके अनुसार एवंभूत शब्द निरुपचार भी कहा जाता है। और जो अचेष्टावान् लम्बी गर्दन और विशाल पेट आदिवाले आकारमें घट शब्दका प्रयोग है वह मिथ्या है, क्योंकि उसका कोई निमित्त नहीं है। यह नय जिस अर्थमें शब्दकी व्युत्पत्ति हुई है वह व्युत्पत्ति-निमित्तक अर्थ जिस समय ही रहता है उसी समय उस शब्दकी प्रवृत्ति मानता है, सामान्यरूपसे नहीं, अर्थात् अन्य समयमें नहीं। जैसे, जलादिके लानेके समय स्त्री आदिके मस्तकपर आरूढ विशेषचेष्टा (आकार) वाला ही 'घट' कहा जाता है, शेष नहीं, क्योंकि वे पटादिके समान, घट शब्दकी व्युत्पत्तिके निमित्तसे शून्य हैं। कोई कहेगा कि इसमें तो अतीत या-भाविनी चेष्टाको लक्ष्यमें करके सामान्यसे ही घट शब्द की प्रवृत्ति होती है,—सो ठीक नहीं है, क्योंकि अतीत तो विनष्ट होनेसे और भाविनी अनुत्पन्न होनेसे शशके विषाणके समान हैं। फिरभी अतीत और भाविनी चेष्टाके द्वारा सामान्यरूपसे ही यदि शब्दकी प्रवृत्ति होती है, तो सब जगह चेष्टादिमें भी (जहाँ-जहाँ घटका आकार है वहाँ-वहाँ) उसकी प्रवृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि विशेषता तो कुछ है नहीं। दूसरी बात यह है कि यदि अतीत और भाविनी चेष्टाकी अपेक्षासे घट शब्दका चेष्टावान्में भी प्रयोग होगा; तो घटके टुकड़े रूप कपाल और मिट्टीके पिण्डमें

१. नैगम दुर्नयके अभिप्रायसे प्रवृत्त नैयायिक वैशेषिक दर्शनोंका खण्डन

पहले जो नैगम नयने परस्परमें विश्लिष्ट (भिन्न) सामान्य-विशेषका प्रतिपादन किया है, वह अयुक्त है, क्योंकि उन दोनोंका इस तरहसे कभी भी प्रतिभास नहीं हो सकता। और जो यह कहा था—'जहाँपर अनुवर्तमान (बराबर चले आये हुए) एकाकारके परामर्शसे ग्राह्य सामान्य है, वह विशेषका प्रतिभास नहीं है, और जहाँपर विशिष्ट देश तथा दशासे युक्त ज्ञानके द्वारा निर्ग्राह्य (अच्छी तरहसे ग्रहण किया गया) विशेष है, वहाँ सामान्यका ज्ञान नहीं है'—यह वचनमात्र ही है। क्योंकि ऐसा माननेसे धव, खदिर, पलाश आदि समस्त विशेषोंके दूर होनेपर वृक्षत्व आदि सामान्यके प्रतिभासका अभाव हो जायगा। ऐसा कोई कहे कि दूरसे विशेष तो दिखाई नहीं पड़ता, केवल सामान्य-ही-सामान्य मालूम पड़ता है,—तो दूरसे दिखाई पड़नेवाले उस सामान्यमें भी घुसे हुए विशेषका अवश्य प्रतिभास होता है। अगर उसका प्रतिभास नहीं होगा तो वह सामान्य शशविषाणके समान हो जायगा, क्योंकि शशविषाणमें भी विशेष तो कोई रहता नहीं है। इसी तरहसे विशेष भी सामान्यसे अत्यन्त भिन्न होकरके नहीं प्रतिभासित होते हैं, सामान्यमें निमग्न होकर ही उनका ग्रहण होता है, नहीं तो सत्तासे भिन्न भाव निःस्वभाव हो जाते हैं। इसी तरहसे वृक्षत्व आदि सामान्योंसे भी वृक्षादिक भिन्न नहीं होंगे, क्योंकि वृक्षादिकके स्वरूपकी स्थिति वृक्षत्वादि सामान्यके अभेदसे ही है। इसलिए वही संवेदन जब वैषम्यको गौण कर देता है, एकाकारको प्रधान बना देता है, तब सामान्यको ग्रहण करता है, ऐसा कहा जाता है और जब समत्वको गिराकरके नानात्वको ऊँचा कर देता है, तब विशेषका ग्रहण करनेवाला होता है। समत्व और नानात्व परस्परमें कथंचिद् भेदरूपसे रहनेवाले और कथंचित् अभेद रूपसे रहनेवाले हैं और वे सभी अर्थोंमें होते हैं। उनके अभावमें वैसा प्रतिभास नहीं हो सकता है। इस कथनसे जो यह कहा था कि 'और विभिन्न रूपसे प्रतिभासित होनेवाले ये सामान्य-विशेष किसी भी तरह नहीं मिलाये जा सकते हैं, इत्यादि,'—इसका भी खण्डन होगया, क्योंकि सामान्य और विशेष जब एक-दूसरेसे विभिन्न रहेंगे, तो उनका प्रतिभास ही नहीं हो सकता है। व्यवहार भी सबकी प्रधानता और गौणताके द्वारा ही कथञ्चित् परस्परमें अभिन्न सामान्य विशेषसे ही साध्य है। सामान्यका दोह, वाह आदि क्रियामें उपयोग नहीं होता, विशेषोंका ही उपयोग होता है; और न खाली विशेष ही इन क्रियाओंको कर सकते हैं, क्योंकि गोत्वसे शून्य विशेष, वृक्षादिसे कोई भेद न होनेसे, उन क्रियाओंको नहीं कर सकते हैं। जैसे वृक्ष आदिमें गोत्व-सामान्यका अभाव है, वैसे ही अब (आपके मन्तव्यानुसार) दोह-वाह आदि क्रियाओंमें भी गोत्व सामान्यका अभाव हो जायगा, तब वृक्ष आदिसे उनमें कोई भेद नहीं रहेगा और जैसे वृक्ष आदिसे दोह-वाह आदि क्रियाएँ नहीं हो सकतीं, वैसे ही गोत्वशून्य विशेषसे भी ये क्रियाएँ न हो सकेंगी। और भी एक बात है, सामान्य-विशेषको यदि बिलकुल भिन्न मानेंगे, तो 'वृक्षको काटो' ऐसी आज्ञा पानेपर क्यों कोई वृक्षविशेष पलाश आदिको काटेगा? कहोगे कि—'पलाश आदि वृक्षविशेषमें वृक्षत्व सामान्यका समवाय है,—तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि समवायको ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाण ही नहीं है। और अगर हो भी कोई तो जो भेदवाले हैं, उसमें अभेदबुद्धि नहीं उत्पन्न कर

जगह सन्निहित विशेषमें व्यञ्जित ही है, उसका कोई दूसरा स्वभाव नहीं है और उसका सन्निहित विशेष व्यञ्जित रूप सब विशेषोंमें है, अतः सर्वविशेषोंकी प्रत्यक्षताका रोकनेवाला कौन होगा ? अर्थात् कोई नहीं। (ब) **यदि दूसरा पक्ष मानें**, अर्थात् एक विशेषके उपलम्भके समय सामान्य नहीं रहता है, तो ऐसी अवस्थामें जैसे एक विशषके उपलम्भके समय वह नहीं रहता है वैसे अन्य विशेषके उपलम्भकालमें भी वह नहीं रहता है, क्योंकि उस एक विशेषसे दूसरे विशेषोंमें कोई विशेषता तो है नहीं, अतः उसका अभाव ही कहा हुआ समझा जायगा। विना विशेषके केवल सामान्यका उपलम्भ तो कहीं देखा नहीं है, और यदि देखा भी गया हो, तो स्व (सामान्यके) स्वभावकी स्थिति होनेसे विशेषरूपताकी प्राप्ति हो जायगी। स्वस्वभावका ही नाम **विशेष** है।

(৮) अब **नूतन विशेषके साथ संबंध** नामके दोषके विषयमें कहते हैं। सामान्य अभीतक अपने पुराने विशेषोंमें व्यवस्थित था, अब एक नूतनविशेष उत्पन्न हो जानेपर कैसे उसके साथ संबंध करेगा ? पहले तो सामान्य विशेषान्तरोंके क्षेत्रसे नवीन उत्पन्न होनेवाले विशेषके क्षेत्रमें जा नहीं सकता है, क्योंकि वह निष्क्रिय है, और न पहलेसे ही वह वहाँ था, क्योंकि विशेषके उत्पादसे पहले उस स्थानमें वह नहीं था, और, नित्य होनेके कारण वह विशेषके साथ उत्पन्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि नित्यके उत्पत्ति और निरोध (विनाश) नहीं हुआ करता। और यदि इन दोषोंसे मुक्त करनेकी इच्छासे उसे सक्रिय भी मान लें, तो पूर्व जो विशेष हैं उनको **छोड़कर** नूतन विशेषमें वह आयेगा, या उनको **विना छोड़े ही** ? [अ] आद्यपक्ष तो मान नहीं सकते हैं, क्योंकि प्राचीन जो विशेष हैं, उनमें सामान्य न रहनेसे उसके संबंधसे साध्य ज्ञान और शब्दके अभावका प्रसंग हो जायगा, लेकिन ऐसा है नहीं, नये-नये विशेषोंके उत्पन्न होते रहने पर भी प्राचीन विशेषोंमें वह देखा जाता है। [ब] यदि दूसरा पक्ष मानोगे, तो वह भी असंबद्ध है, क्योंकि जो निरवयव है वह पूर्व व्यक्तियों (विशेषों) को विना छोड़े उत्पन्न होनेवाले व्यक्तिके प्रति गमन नहीं कर सकता है, और सावयव पक्षका तो हमने पहले ही निराकरण कर दिया है, इसलिए इसको स्वीकार करके इसका परिहार करना ठीक नहीं है।

अब ' नूतनविशेषके साथ संबंध आदि ' यहाँ आदि पदसे सूचित जो दूषण आता है उसे कहते हैं। भिन्न सामान्यके संबंधसे यदि भाव समान हैं, स्वरूपसे समान नहीं हैं, तब सत्त्व या सामान्यके संबंधसे पहले भाव **सत्** हैं कि **असत्** हैं ? **अगर सत् हैं**, तो सत्ता (सामान्य) का संबंध व्यर्थ ही है, अगर वह व्यर्थ नहीं होता तो अनवस्था हो जायगी, क्योंकि उस सत्तामें भी दूसरी सत्ताके संबंधका निवारण नहीं कर सकते हैं। और **यदि असत् हैं**, तो बिल्कुल असत् ऐसे गगनारविन्द आदिकोंके भी सत्ताके संबंधसे भावरूपता हो जायगी, एक ही योग-क्षेम होनेसे। ऐसा ही द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व और गोत्व आदि सामान्योंमें भी यह सब कहना चाहिये।

इसलिए परस्परमें बिल्कुल भिन्न सामान्य-विशेष किसी भी तरह नहीं घटते हैं। इसीलिए उनकी अत्यन्त भिन्नताका समर्थन करनेवाला, उनके तादात्म्यका प्रतिक्षेपक अभिप्राय निरालम्बन होनेसे **' नैगम दुर्नय '** के नामको प्राप्त करता है। तादात्म्यकी अपेक्षासे ही सामान्य-विशेषकी भिन्नताके

प्रपञ्चके विलयकी सिद्धि होती है । लेकिन ऐसा तो तब हो, जब पटादिके अभावैकान्तसे **शून्यवादी**का मनोरथ पूरा न होता हो, अर्थात् इसी कथनसे **शून्यवादी** अपने शून्यवादकी सिद्धि करता है, तब भेद, अभेद कुछ भी न रहनेसे आपका भेद-प्रपञ्च-विलय भी उड़ जाता है । शून्यवादीका मनोरथ इस तरह पूरा होता है:—घट पटादिके विना अनुभूत होता है। लेकिन पटादिका अभाव भावके साथ तादात्म्य अनुभवन नहीं करता है, इसलिए यह अभावात्मक ही है। इसी तरह पटादिक भी एक-दूसरेकी अपेक्षासे अभावात्मक ही हैं, इस तरह शून्यत्वकी आपत्ति होती है। इसलिए स्वरूपके धारण करनेवाली, पररूपोंसे व्यावृत्त ही वस्तु सब क्रियाओंमें व्यापार करती है, इस तरह **भावात्मक** और **अभावात्मक** दोनोंका ही व्यापार होता है। स्वरूपधारण **स्वभाव** है, पररूपसे व्यावर्तन **अभाव** है। इसी प्रकार अपनेको (वस्तुको) विषय करनेवाले प्रत्यक्षके उत्पादनमें भी वही वस्तु व्यापार करती है और इससे प्रत्यक्ष तद्रूपवस्तुका ही साक्षात् करता है। इस कारण स्वरूपसे नियत, पररूपोंसे व्यावृत्त ही वस्तुमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति होती है, क्योंकि ऐसी ही वस्तुसे वह जन्य है, भावमात्रमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि केवल भावकी स्वरूपसे व्यवस्थिति न होनेसे उसको उत्पादकत्व नहीं वन सकता है। और न ऐसा ही है कि जनक होनेसे अर्थ ही ग्राह्य है, तथा जन्य होनेसे ज्ञान ही ग्राहक है, क्योंकि ऐसा माननेसे अतिप्रसंग दोष आता है। अतिप्रसंग यह कि चक्षुसे जन्यमान ज्ञानको चक्षुका ग्राहक होना चाहिये, लेकिन नहीं होता, ऐसा पहले कहा जा चुका है। तब फिर किस कारणसे ज्ञान **ग्राहक** और अर्थ **ग्राह्य** होता है ? आवरणके क्षय, क्षयोपशम और इन दोनोंके भी कारणरूपसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और आलोक आदिके होनेपर उनके अनन्तर ही अव्यवधानरूपसे ज्ञानका जन्म होता है और जब उसका ग्रहण करनेका परिणाम होता है तब ग्रहण करता है, अर्थ तो सन्निधानादिसे ग्रहण करनेमें आता है और वह अर्थ अनुवर्तमान और व्यावर्तमानरूप ही प्रतीत है, इसलिए उसे तथाभूत (अनुवर्तमान और व्यावर्तमानरूप) ही स्वीकार करना चाहिये, केवल सामान्यरूप ही नहीं जैसा कि **अद्वैतवादी** या **सांख्यदर्शनवाले** मानते हैं। कोई कहे कि—सत् और असत् अंशका एक वस्तुमें अवस्थान कैसे होगा ?—तो तादात्म्यसे दोनोंका एक वस्तुमें अवस्थान हो सकता है, ऐसा हम कहते हैं। पुनः यदि तुम कहो—' तादात्म्य या तो भावमात्र होगा या अभावमात्र, **एक-दूसरे से अभिन्न होनेसे**, एक-दूसरे-के स्वरूपके समान, इसलिए उभयरूप वस्तुकी सिद्धि नहीं है। '—तो ऐसी बात नहीं है। तादात्म्य तो एक संबंध है, **और संबंध दोमें रहता है**, अगर दो नहीं होंगे तो किसका किसके साथ संबंध होगा ? क्योंकि उस संबंधका कोई विषय तो है नहीं। इसलिए ये सत्-असत् अंश धर्मीरूपसे अभिन्न हैं, क्योंकि सद्रूप और असद्रूपवाली वस्तु **एक** है, धर्मरूपसे जब उनकी विवक्षा करते हैं तो उनमें भेद दिखाई देता है, क्योंकि स्वरूपसे वे हैं, पररूपसे नहीं हैं। सो इस प्रकार प्रत्यक्षको पृथक्-पृथक् वस्तुका ग्रहण करनेवाला, तथा सकल प्रमाणोंमें मुख्य सिद्ध करनेपर शेष प्रमाण भी तदनुसारी होनेसे पृथक्-पृथक् ही अपने विषयको स्थापित करते हैं। इस कारण विशेषका अपलाप करनेवाला केवल सामान्यका प्रतिष्ठापक दुरभिप्राय ' संग्रह दुर्नय ' के नामको धारण करता है। विशेषकी अपेक्षा करके ही सामान्यके स्थापकको संग्रहनयपना है।

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवः ॥

"हेतु यदि अपने अस्तित्वमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं करेगा, तो या तो वह हमेशा रहेगा, या फिर कभी भी नहीं रहेगा, क्योंकि पदार्थ तभी ही कभी-कभी उत्पन्न होते हैं जब उन्हें किसी अन्य कारणकी अपेक्षा हो।"

वार्तमानिक पर्यायकी उत्पादक पर्यायसे दूसरी पर्याय माननेपर पुनः उस उत्पादक पर्यायकी जनक पर्याय भी स्वीकार करनी पड़ेगी तब इस तरह अनादि पर्यायकी परंपराकी सिद्धि हो जायगी। तथा व्यवहारमें काम आनेवाली वस्तुकी पर्यन्त (अन्तिम) पर्यायको यदि दूसरी पर्यायका उत्पादक नहीं मानोगे, तो बलपूर्वक अवस्तुत्व प्राप्त हो जायगा। और इस तरह आपकी ही नीतिके अनुसार अर्थ-क्रिया (कार्य) का करना नहीं बनेगा। और यदि उसे पर्यायान्तरका उत्पादक मानोगे, तो यह पर्यायान्तर भी दूसरी पर्यायको उत्पन्न करेगी, इस तरह अनन्त पर्यायकी माला उत्पन्न होती है। तथा विशद दर्शनसे साक्षात्कार किया गया घनाकार (स्थूलत्व) भी अप्रदेशी जो अन्तिम अवयव, उसके विना नहीं उत्पन्न होता है। हाथ, पैर, सिर और गर्दन आदिके अवयवोंको खण्ड-खण्ड करके भिद्यमान होनेसे अवयवीरूपता है, क्योंकि इन अवयवोंके भी जो अवयव हैं, वे दूसरे-दूसरे अवयवोंसे बने हुए हैं। अन्तिम अवयव जो परमाणु हैं, वे ही वास्तवमें घनाकार (स्थूलता) के कारण हैं। उन परमाणुओंसे यदि यह घनाकार न हो, तो यह या तो सर्वत्र आकस्मिक रूपसे होना चाहिये, अथवा कहीं भी नहीं होगा, क्योंकि होने या न होनेमें किसी और चीज़से इसमें विशेषता तो है नहीं। इस कथनसे पहले जो कहा था कि—'प्रमाण उसी वस्तुका अनुग्राहक होता है जो कि लोकव्यवहारमें काम आता है, इतरका नहीं'—इसका भी खण्डन होगया, क्योंकि दृश्यमान जो स्थूल एवं स्थिर अर्थ, वह विना परमाणुओंके नहीं होगा, अतएव परमाणुके अभावमें दृश्यमान अर्थकी अनुपपत्तिसे ही परमाणुका साधन होता है, इसलिए इनके अस्तित्वमें प्रमाण भी अनुग्राहक है। और जो यह कहा था कि—'चूंकि परमाणु लोक-व्यवहारमें अनुपयोगी होनेसे अवस्तु हैं, इसलिए उन अतीत, अनागत पर्यायवाले परमाणु आदिके पर्यालोचनसे क्या प्रयोजन ? इत्यादि'—वह सब भी अयुक्त है। उपेक्षाके कारण वार्तमानिक वस्तुका कोई उपयोग न होनेसे उसको अवस्तुत्वकी प्राप्ति है, क्योंकि सभी वस्तुएँ तो सब लोगोंके उपयोगी होती नहीं हैं। यदि किसी एकके भी उपयोगमें आनेसे उसे वस्तु मानोगे, तो ऐसी उपयोगिता तो परमाणु आदिमें भी है, क्योंकि वे भी सर्वज्ञके ज्ञान आदिके गोचर होते हैं, इसलिए इस प्रकरणको यहीं खतम करते हैं। सो इस प्रकार प्रमाणप्रसिद्ध अर्थका अपलापी होनेसे व्यवहार दुर्नय है। दुर्नयकी उपेक्षा करके व्यवहारके अनुकूल वस्तुके समर्थनको **व्यवहारनयपना** है।

४. ऋजुसूत्र-दुर्नयके अभिप्रायसे प्रवृत्त दर्शनोंका खण्डन

ऋजुसूत्र भी दृष्टका अपलाप करके अदृष्ट ही क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाला परमाणुरूप जो वस्तुका स्वरूप, उसको परमार्थरूपसे मानता हुआ दुर्नयताको प्राप्त होता है, क्योंकि दृश्यमान स्थिर

करनेमें चतुर है। केवल उन तीनों कालोंमें रहनेवाला द्रष्टा भी द्रव्यरूपसे वैसा ही है। इसलिए क्षणिक पर्यायोंके तिरोधानद्वारा वस्तुरूपका संकलन होनेसे स्थिर ही यह वस्तु समस्त क्रियाओंमें व्यापार करती है, ऐसा प्रतीति-वीथिमें आता है। स्थैर्य भी तात्त्विक है, क्योंकि क्षणिक पर्यायोंके विद्यमान होते हुए भी उनका ग्रहण नहीं होता। प्राकृत (साधारण) लोगोंका ज्ञान आवरणके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेके कारण थोड़े-से ही अंशोंको विषय करता है। यदि फिर द्रव्यबुद्धिको पर्यायकी परंपराके दर्शनके बलसे आई हुई होनेसे अतात्त्विकी मानोगे, तो पूर्वपर्याय जो उत्तरपर्यायको उत्पन्न करती है, वह **सान्वय** उत्पन्न करती है या **निरन्वय**? गत्यन्तर तो है नहीं। यदि **सान्वय** उत्पन्न करती है, तो द्रव्य ही नामान्तरसे कहा हुआ हुआ, और यदि **निरन्वय** उत्पन्न करती है, तो निर्हेतुकता होनेसे उत्तरपर्यायके अनुत्पादका प्रसंग आ जायगा। इसलिए वस्तुको उभयरूप (द्रव्य और पर्यायात्मक) माने विना अर्थ-क्रिया सिद्ध नहीं होगी।

अब अगले मुद्देको लेते हैं। अर्थ-क्रिया (कार्य करना) वस्तुका लक्षण भी नहीं है। अगर अर्थ-क्रिया वस्तुका लक्षण होगी तो शब्द, बिजली, प्रदीप आदिके चरमक्षणोंको क्षणान्तरका आरम्भक न होनेसे अवस्तुत्वकी प्राप्ति हो जायगी, चरमक्षणोंको अवस्तुत्व होनेपर फिर उपान्त्यक्षणका भी वस्तुमें व्यापार नहीं होगा। इस प्रकार जितने क्षण हैं उन सबोंके जोड़को अवस्तुत्व हो जायगा। यदि क्षणान्तरका आरम्भ न करनेपर भी अपनेको विषय करनेवाले ज्ञानका उत्पन्न करना ही 'अर्थ-क्रिया' मानी जायगी, तो ऐसे तो अतीत और भावी पर्यायकी परंपरा भी योगिज्ञान (सर्वज्ञ-ज्ञान) की विषयताको प्राप्त होती है, तो उसे भी वस्तुत्व स्वीकार करना पड़ेगा। इसलिए अर्थ-क्रिया तो वस्तुका लक्षण है नहीं, किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होना यह वस्तुका लक्षण है, क्योंकि यही प्रमाणसे प्रतिष्ठित है। कहोगे कि—उत्पाद, व्यय ये दोनों ध्रौव्यके साथ विरुद्ध होते हैं—, तो यह विरोध किससे है? **प्रमाणसे** कि **अप्रमाणसे**? **प्रमाणसे** तो हो नहीं सकता है, क्योंकि बाहर और भीतर सभी प्रमाण वैसी (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त) ही वस्तुके द्योतनमें पटिष्ठ (चतुर) सिद्ध किये गये हैं। **अप्रमाणसे** भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अप्रमाण अकिञ्चित्कर है।

इससे स्थूलताका दूषण भी हटा दिया, क्योंकि प्रतिभाससे वह दूषण नष्ट हो जाता है। स्थूलताका अपह्नव करनेपर विरोध उठ खड़ा होनेसे स्थूलताके दूषणको निर्मूल हो जानेसे उस दूषणका कहना प्रलापमात्र है।

और जो वर्तमान प्रकाशरूपतासे सब प्रमाणोंको तत्संबद्ध वस्तुका ग्राहित्व कहा था, वह भी अयुक्त है, क्योंकि उनको एकान्तसे (सर्वथा) वार्तमानिकत्व की ही सिद्धि नहीं है, क्योंकि वे आत्मासे कथंचित् अभिन्न हैं, और आत्मा कालत्रयमें व्यापक है, अतः आत्मरूपतासे उनका भी कालत्रयमें अवस्थान है। और तब वे आत्माके अर्थग्रहणके परिणामरूप हैं। सब प्रमाणोंका परिणामिनी (परिणमन करती हुई भी स्थिर) ही वस्तुमें व्यापार होता है, क्षणिक वस्तुमें नहीं। और न अतीत अनागत क्षणवर्ती वस्तुका ग्रहण होनेसे अनादि अनन्त जन्मपरंपराके ग्रहणका प्रसङ्ग आयेगा, क्योंकि अतीत अनागत क्षणवर्ती वस्तुका ग्रहण आवरणके विच्छेदकी अपेक्षासे होता है। आवरणका विच्छेद ही वास्तवमें संवेदनके आविर्भावका भीतरी कारण है, ग्राह्य (अर्थ) आदि तो बहिरंग हैं। समस्त रूपसे

सिद्धि हो जायगी। कोई-कोई वस्तुकी पर्यायें एसी हैं जो स्पष्ट अनुमीयमान होती हैं, फिर भी उनको कह नहीं सकते हैं। जैसा कि कहा है—

'ईख, खीर और गुड़ आदिके मिठासमें बड़ा भारी अन्तर है, फिर भी सरस्वती भी उसको कह नही सकती है।"

जब इन पर्यायोंको अनभिलाप्यत्वकी सिद्धि होगई तब इनकी क्षणभंगुरताका कथन भी ऋजु-सूत्रके समान निरसितव्य है।

तथा वे लोग भी दुर्नयताको ही अपनाते हैं जो अपने-अपने मतकी अपेक्षासे एक तरफ़ तो अपने-अपने अभिप्रेतकी स्थापना करते हैं, और दूसरी ओर अपने अभिप्रेतसे विपरीत शब्द और अर्थका तिरस्कार करते हैं। प्रमाणसे तो इतना ही प्रतिष्ठित है कि विधिमुखसे शब्द अर्थका वाचक है, लेकिन ऐसा नियम नहीं है कि यह शब्द इसी अर्थका वाचक है, दूसरेका नहीं। देश, काल, पुरुषके संकेत आदिकी विचित्रतासे सब शब्दोंका अन्य-अन्य अर्थका अभिधायकत्व हो सकता है। अर्थमें भी अनन्त धर्मपना होनेसे ही अन्य-अन्य शब्दके वाच्यत्व होनेमें कोई विरोध नहीं है। वैसा ही निर्दोष व्यवहार भी देखा जाता है, और उस व्यवहारको नहीं मानोगे तो उसके लोपका प्रसंग हो जायगा। इसलिए जो शब्द हैं, वे अपनी-अपनी योग्यतासे सब अर्थोंके वाचक हो सकते हैं, लेकिन देश और क्षयोपशम आदिकी अपेक्षासे किसी अर्थमें किसी प्रकार प्रतीतिको उत्पन्न करते हैं। इसलिए कहीं तो शब्द व्युत्पत्तिके निमित्तकी विना अपेक्षा किये रूढ़िसे प्रवृत्ति करते हैं, कहीं सामान्य-व्युत्पत्तिकी अपेक्षासे और कहीं तत्कालवर्ती व्युत्पत्तिके निमित्तकी अपेक्षासे। इस तरह उसमें प्रामाणिकरूपसे नियत अर्थका आग्रह नहीं करना चाहिये। इसलिए ये शब्दादिक नय जिस समय अन्य-अन्य नयोंके द्वारा अभिमत शब्दार्थकी उपेक्षा (उपेक्षा और बाधामें फ़र्क है, उपेक्षा तटस्थ होती है जब कि बाधा संघर्षकारी) करके स्वाभिमत शब्दके अर्थको दिखाते हैं, तब ये ' नय ' हैं, क्योंकि स्वाभिमत शब्दार्थ भी उन अन्य-अन्य नयोंके द्वारा अभिमत शब्दार्थोंमें है। परस्परमें बाधा देते हुए ये जब प्रवर्तमान होते हैं, तब दुर्नयरूपताको धारण करते हैं, क्योंकि उस अवस्थामें ये निरालम्बन हैं। यहाँ कोई **शंकाकार** शंका करता है कि—यदि एक-एक धर्मके समर्थनमें परायण शेष धर्मोंका तिरस्कार करनेवाले अभिप्राय दुर्नयताको धारण करते हैं, तो वचन भी एक धर्मके कथनके द्वारा प्रवर्तमान होनेसे और सावधारण होनेसे शेष धर्मोंका प्रतिक्षेप करनेसे मिथ्या हो जायगा। इसलिए अनन्तधर्माध्यासित वस्तुका संदर्शक ही वचन यथावस्थित अर्थका प्रतिपादक होनेसे सत्य है, लेकिन वचनकी प्रवृत्ति तो ऐसी नहीं होती है। यह घड़ा सफेद है, मूर्त है, इत्यादि एक-एक धर्मके प्रतिपादनकी निष्ठतासे व्यवहारमें शब्द-प्रयोग देखा जाता है। सब धर्मोंको एक-साथ नहीं कह सकते हैं, और उनके अभिधायक भी अनन्त हैं। और न एक-एक धर्मके व्यक्त करने पर भी इन शब्दोंको झूठा (मिथ्या) कह सकते हैं, क्योंकि मिथ्या कहनेसे तो समस्त शब्द-व्यवहारका उच्छेद हो जायगा। दूसरे, उनको मिथ्या कहनेसे उनसे प्रवृत्ति नहीं होगी।—अब इस शंकाका समाधान करते हैं—इस संसारमें वस्तुके प्रतिपादक दो तरहके लोग होते हैं—एक लौकिक और दूसरे तत्त्वचिन्तक। इनमेंसे लौकिक जन अर्थित्वके वशसे प्रत्यक्षादिसे प्रसिद्ध अर्थका मध्यस्थ भावसे व्यवहार

इत्यादिक वचनसे दिखाते हैं। अतः इसको 'सकलादेश' कहते हैं, क्योंकि इसमें ऐसी वस्तु दिखाई जाती है, जिसका अभ्यन्तरीभूत अनन्तधर्म 'स्यात्' शब्दसे संसूचित है, जिसका आत्मभाव (संपूर्णपना) साक्षात् कहे गये 'जीव' शब्द और 'अस्ति' क्रियाके द्वारा प्रधानीकृत है और जिसका असंभव 'एव'-रूप अवधारणसे व्यवच्छिन्न है। इसका अर्थ हुआ प्रमाणसे प्रतिपन्न संपूर्ण अर्थका कथन। जैसा कि कहा है—

'ज्ञेयविशेषका जो ज्ञान होगा, वह या तो **नयात्मक** होगा या **प्रमाणात्मक**। इनमेंसे सकलग्राही **प्रमाण** होता है और विकलग्राहीको **नय** समझना चाहिये।'

सो इस सबका यह निष्कर्ष निकला—नय और प्रमाणको जाननेवाला स्याद्वादी सकलादेश और विकलादेशको लक्ष्यमें रखके वस्तुस्वरूपके प्रतिपादनकी इच्छासे जो कुछ कहता है वह सब सत्य है, क्योंकि उसके अर्थका विषय संभव है। और दुर्नयमतावलम्बी एकान्तवादी जो-कुछ कहते हैं वह सब झूठ है, क्योंकि उनके अर्थका विषय संभव नहीं है॥ २९॥

अब इसी अर्थको दृढ़ करते हुए सिद्धान्तमें भी एक-एक नयके भावसे प्रवृत्त सूत्र संपूर्ण अर्थके अभिधायक नहीं हैं, किन्तु उनके समुदायके अभिप्रायसे प्रवृत्त जो सूत्र है, वह अविकल वस्तुका निवेदक है, ऐसा दिखाते हैं:—

कारिका ३०-नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि।
संपूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते॥ ३०॥

"एक धर्मके ग्रहणमें संलग्न नैगमादि नयोंकी आगम-मार्गमें प्रवृत्ति होती है। जो संपूर्ण अर्थका विनिश्चय करता है, वह **स्याद्वादश्रुत** कहा जाता है॥ ३०॥"

श्रुत तीन प्रकारका है,—**मिथ्याश्रुत, नयश्रुत** और **स्याद्वादश्रुत**। सुना जाता है वह श्रुत है अर्थात् आगम है। मिथ्याश्रुत दुर्नयके अभिप्रायसे प्रवृत्त तीर्थिकोंका होता है, क्योंकि उसका कोई विषय नहीं होता। तथा हेतुभूत नयोंसे जो श्रुत वह **नयश्रुत** है और यह अर्हदागमके अन्तर्गत ही होता है। यह एक नयके अभिप्रायसे प्रतिबद्ध होता है, जैसे—'पडुप्पन्ने नेरइए विणस्सइ'—'तत्कालोत्पन्न नारकी नष्ट होता है' इत्यादि। इस आगममें ऋजुसूत्रनयके अभिप्रायसे क्षणिकपना संभव है, क्योंकि प्रथम समयमें जिस समय नारकी उत्पन्न हुआ उस समय उसकी जितनी आयु थी, वही आयु उसकी द्वितीय समयमें नहीं रहती है। द्वितीय समयमें उसकी आयु यदि वह जघन्य भी हो तो, एकसमय कम दश हजार होगी। इस तरह ऋजुसूत्रके अभिप्रायसे स्पष्ट ही क्षणिकता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जितने नय हैं उन सबके समुदायरूप अर्हदागम होता है, क्योंकि "सव्वनयमयं जिणमयम्"—"सर्वनयात्मक जिनमत (जिनागम) होता है," ऐसा कथन है। तथा निर्दिश्यमान धर्मसे भिन्न अशेष धर्मान्तरोंके संसूचक 'स्यात्' शब्दसे युक्त 'वाद'—अभिप्रेत धर्मका कथन **स्याद्वाद** है। तदात्मक जो श्रुत है वह **स्याद्वादश्रुत** है। वह संपूर्ण अर्थके निर्णयमें कारण होनेसे सम्पूर्ण अर्थका निश्चायक कहा

बौद्धका इस विषयमें पूर्वपक्ष

घड़े आदिका किसी चिज़से विनाश देखा जाता है। इस विषयमें हमारी पृच्छा (पूछना) यह है कि जब उनका लकड़ी, डण्डे आदिसे यह विनाश होता है तो वे **अविनश्वरस्वभाव**, अर्थात् कभी नष्ट न होनेवाले स्वभावके हैं, या **विनश्वरस्वभाव**, अर्थात् नष्ट होनेवाले स्वभावके हैं ? [अ] यदि आद्यपक्ष मानते हो, तो वह अयुक्त है, क्योंकि स्वभाव किसीका छुड़ाया नहीं जा सकता है, क्योंकि वह नियतरूप होता है। अगर नियतरूप नहीं हो तो वह स्वभाव नहीं है। अगर कोई तुमसे कहे कि— अपने कारणके बलसे उसका स्वभाव ही ऐसा हो गया है कि विनाशका कारण मिलते ही वह नष्ट हो जाता है,—तो भी उसके विनाशके कारणका संनिधान (आ जाना) **यादृच्छिक** (चाहे जब स्वेच्छानुसार) होता है, या वह **उसके** (विनाशके) **स्वभावमें ही शामिल है**। यदि विनाशके कारणका उपस्थित होना यादृच्छिक है, तो अपने विरोधी (प्रत्यनीक) कारणके आ जानेसे संनिहित (पासमें आई हुई) चीज़ लौट जाती है। संनिहित भी चीज़ें अपने प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) के आ जानेसे क्यों लौट जाती हैं ? इसका एक कारण है और वह यह है कि उस संनिहित विनाशके कारण मुद्गरादिके भी जो हाथ आदि कारण हैं, वे अपने (हाथ आदि) को लानेवाले जो कारण-कलाप, उनकी अपेक्षा रखते हैं। जैसे यहाँ उदाहरणसे समझो—घटके विनाशका कारण हुआ मुद्गरादि, मुद्गरादिके चलानेवाले कारण हुए हाथ आदि, और हाथ आदिके चलानेके कारण हुए मनुष्य वगैरःका शरीर और उसकी इच्छा आदि। अब यदि विनाश्यके विनाश-कारणका आना यादृच्छिक (स्वेच्छानुसार) है, तो विनाशकारणके कारण और फिर उसके भी कारण-कलापोंका आना अवश्यंभावी नहीं होना चाहिये। और उन विनाशकारणके कारण तथा उनके भी कारणोंके अवश्यम्भावी न होनेसे किसी घटादि पदार्थका, उसके विनाशकारणोंके समूहके उपस्थित न होनेसे, नाश न भी हो; लेकिन नाश न होना यह इष्ट नहीं है, क्योंकि जितने कृतक हैं उन सबका नाश होता है। और यदि ऐसा मानोगे कि— विनाश्यके विनाश-कारणका (मुद्गरादिका) सन्निधान विनाश्यके स्वभावसे होता है, तो पीछे भी विनाश्यके स्वभावके बलसे विनाशके कारण आयेंगे, इस कारण प्रथम क्षणमें ही वे आवें, और उनके प्रथम-क्षणमें भी आनेसे अन्यको तो क्षणिकता ही है। 'यह अर्थ तो ऐसा बनगया है कि अपने कारणसे ही नियतकालके बाद अपने विनाशके हेतुको जुटा लेगा'—ऐसा यदि कहो, तो ऐसा कहनेसे भी क्षणभङ्गुरता ही आती है। कैसे ? वही बताते हैं—अपने कारणसे कोई पदार्थ, समझो एक वर्ष बाद अपने विनाशके जो कारण उनके लानेमें समर्थ होगा। अब हम तुमसे पूँछते हैं कि उस पदार्थका यह स्वभाव उसके उत्पाद-क्षणसे द्वितीय क्षणमें है या नहीं ? [अ] अगर है तो उसको एक वर्षतक फिर रहना होगा। इस प्रकार वर्ष समाप्त होनेके अन्तिम क्षणसे पूर्वक्षणतक भी यदि उसका वैसा ही स्वभाव है, अर्थात् एक वर्ष बाद वह अपने नष्ट होनेके कारणोंको जुटायेगा और फिर नष्ट होगा, तो दूसरे एक और वर्षकी उसकी स्थिति हो जायगी। तब इस तरह होते-होते वर्षकी कभी समाप्ति न होनेसे, पदार्थ अनन्त कल्पतक ठहरनेवाला होजायगा, **क्योंकि उसका एक वर्षतक ठहरनेका जो स्वभाव है, वह तो कभी नष्ट नहीं होगा, वह वैसा-का-वैसा ही हमेशा बना रहेगा।** [ब] और यदि द्वितीय क्षणमें उस पदार्थका

तो मानते ही हैं,—तो हम कहते हैं कि वह क्षणभावी भी स्थिति अस्थिति स्वभाव पदार्थोंमें सैकड़ों हेतुओंसे भी नहीं की जा सकती है । और अगर पदार्थोंमें स्थितिस्वभावता मानोगे तो हेतुका व्यापार निरर्थक हो जायगा। अगर वह क्षणभाविनी स्थिति विना कारणके ही होगी, तो हमेशा होती रहेगी, इस तरह आपने तो प्रतिक्षण विलयको जलाञ्जलि दे दी। इसी तरह उत्पादका हेतु भी **उत्पादस्वभाव पदार्थकी** उत्पत्ति करेगा, या **अतत्स्वभाव (अनुत्पादस्वभाव) की ?** [अ] आद्यपक्ष तो स्वीकार कर नहीं सकते हैं, क्योंकि स्वयं उत्पन्न होनेवाले पदार्थके उत्पादनमें लगा हुआ हेतु शंखको कोई सफेद करे उसके समान पीसे हुए को पीसता है, क्योंकि उत्पादक हेतुके अभावमें भी स्वयोग्यतासे स्वयं उत्पन्न होनेवाला पदार्थ उत्पन्न हो जायगा । [ब] और न द्वितीय पक्ष स्वीकार करने योग्य है, क्योंकि जिसमें स्वयं उत्पन्न होनेका धर्म विद्यमान नहीं है, उसे कोई भी उत्पन्न नहीं कर सकता है, नहीं तो शशविषाणादि भी उत्पाद्य (उत्पन्न करने योग्य) कोटिमें आ जायेंगे, क्योंकि उत्पाद्य और अनुत्पाद्यमें कोई फर्क तो रहेगा नहीं। इसलिए किसी भी चीज़का अत्यन्ताभाव नहीं रहेगा। सो जैसे निर्हेतुक होनेसे नाश प्रतिक्षणभावी है, वैसे ही दर्शित युक्तिसे स्थिति और उत्पत्ति भी प्रतिक्षणभावी हैं, इसलिए तीनों—नाश, स्थिति, और उत्पत्तिसे आक्रान्त सकल वस्तुओंका समूह स्वीकार करना चाहिये। ऐसा होनेपर जीव भी जीवत्व, चैतन्य, द्रव्यत्व आदिके द्वारा स्थिरताको धारण करता हुआ हर्ष, विषाद आदिके द्वारा तथा और भी अन्य-अन्य अर्थके ग्रहणके परिणामों द्वारा उत्पाद-व्यय धर्मवाला होता हुआ पारमार्थिक प्रमाता है, ऐसा बलपूर्वक सिद्ध हो जाता है। यहाँ कोई शंका कर सकता है कि—यदि आप उत्पाद, व्यय और स्थितिके निर्हेतुक होनेसे उनकी सकलकालभाविताको सिद्ध करते हैं, तो अन्वय, व्यतिरेकके द्वाराप्रत्यक्षादि प्रमाण-प्रसिद्ध इस उनके कारण-कलापके व्यापारका आप क्या करेंगे ? इसका आप लोप तो कर नहीं सकते हैं। देखो—कुलाल (कुम्हार) आदि कारण समूहके व्यापार करनेपर घटादिक देखे जाते हैं, और उनके अभावमें नहीं देखे जाते हैं, इसलिए वे तज्जन्य कहाते हैं। स्थिति भी विनाश-कारणके संनिधानसे पहले पदार्थके बल या उसके कारणोंके बलसे ही है, तथा मुद्गरादिके होने अथवा न होनेके द्वारा सत्ता या असत्ताका अनुभव करनेवाले पदार्थका नाश भी मुद्गरादि जो नाशके हेतु, उनके सन्निधान या असन्निधानकृत ही प्रतीत होता है, अहेतुक नहीं। सो यह कैसे है ?—इसका उत्तर यह है—कि हम सर्वथा हेतुके व्यापारोंका निषेध नहीं करते हैं, किन्तु यह कहते हैं कि जो द्रव्य स्वयं उत्पाद, व्यय और स्थितिरूपसे विवर्तमान है, उसमें कुछ विशेषता पैदा करनेमें इन हेतुओंका व्यापार होता है, क्योंकि उस विशेषताके साथ ही उन हेतुओंके अन्वय-व्यतिरेकका अनुकरण देखा जाता है, और दृष्टके लोप करनेमें हमारी प्रवृत्ति नहीं है। **प्रतीति** और **युक्ति** दोनोंमें ही हमारा पक्षपात है। प्रतीतिसे विकल केवल युक्ति या युक्तिसे रहित केवल प्रतीतिको स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि एक-दूसरे-के विना प्रत्येक न होनेवाले अर्थके विषय करनेसे निरालम्बन है। इसलिए इस विषयको यहीं छोड़ते हैं।

'स्वपरका प्रकाशक' इस विशेषणसे पहले कहे गये प्रमाणके विशेषण 'स्वपर-प्रकाशक' की तरह, परोक्षज्ञानवादी (ज्ञानको परोक्ष माननेवाले) **मीमांसकों** और ज्ञानमात्रवादी **योगाचारोंका**

उसमें (व्यतिरेकमें) बाधक है। दूसरी बात यह है कि यदि समवायके बलसे आत्मामें ज्ञान समवेत होता है, तो आत्मा और समवाय दोनों व्यापक और एकरूप हैं, तब उसका (ज्ञानका) समवाय सब आत्माओंमें क्यों नहीं होता है ? विशेषता तो कुछ है नहीं। और जब एक ही ज्ञान सब आत्माओंमें समवेत होगा तो देवदत्तके ज्ञानसे यज्ञदत्त आदि भी अर्थ तत्त्वको जानें। और भी एक बात है, विज्ञानके उदयके वक्त भी आत्मा जैसा पहिली अवस्थामें था वैसा ही रहता है, एक तरफ़ तो ऐसा कहकर फिर ' पहले अप्रमाता था, पीछे प्रमाता हुआ ' ऐसा कहना अपनी उन्मत्तताको ही प्रकट करता है, और कुछ नहीं। अब इस प्रकरणको यहीं छोड़ते हैं।

४. चार्वाकाभिमत भूतसे अव्यतिरिक्त प्रमाताका खण्डन

कारिकाके पश्चार्द्धसे पञ्चभूतोंसे भिन्न स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे ग्रहण करने योग्य जिवको दिखाते हुए चार्वाकदर्शनका तिरस्कार करते हैं। जीवको जड़ात्मक भूतोंसे अभिन्न माननेपर उसमें हितलक्षण जो बोध, तद्रूप हर्ष, विषाद आदि विवर्तके अनुभवके अभावका प्रसङ्ग हो जायगा।

इसपर चार्वाक कहता है—' कायाकार-परिणत भूत ही आत्मासे भिन्न जो चेतना है, उसे बढ़ाते हैं, और वह चेतना भी वैसे (कायाकार) परिणामसे परिणत भूतोंमें रहती है, और उनके अभावमें उन्हींमें लीन (छिप) हो जाती है। इस प्रकार चेतनाके भिन्नत्वका अनुभव होनेपर भी परलोक जानेवाले ऐसे किसी जीवकी सिद्धि नहीं होती, इतने ही मात्रसे दृष्ट व्यवहार बन जाता है। '—लेकिन ऐसी बात है नहीं, क्योंकि पञ्चभूतात्मक शरीर और चेतना इन दोनोंमें ही संयोग अनुभूत होता हुआ दिखाई देता है। इनमें भी शरीर बहिर्मुखाकार होनेसे ज्ञानके लिये होनेकी वजहसे जड़ अनुभूत होता है, और चेतना अन्तर्मुखाकार होनेसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे साक्षात् की जाती है। इसीलिए अव्यतिरेकपक्ष-प्रतिभाससे निराकृत होनेसे उसकी आशंका नहीं की। और परस्परमें भिन्नरूपसे प्रकाशमान शरीर और चेतनामें भूत ही चेतनाको बढ़ाते हैं, ऐसी यदि आप कल्पना करते हो, तो हम भी ऐसी कल्पना क्यों न करें कि चेतना ही भवान्तरसे उत्पत्तिस्थानमें आकरके पञ्चभूतकी भ्रान्तिके जनक शरीरको बनाये, फिर जब भवान्तरमें जानेकी इच्छा हो तब उसे छोड़े, शरीर चेतनासे अधिष्ठित होकर गमनादि चेष्टा करे, और उससे वियुक्त होनेपर काष्ठके समान पड़ा रहे; इन सब बातोंसे माळूम पड़ता है कि जीवसंपाद्य ही शरीर है, शरीरसंपाद्य जीव नहीं। इस विचारको हम ठीक भी समझते हैं, क्योंकि चेतनावान् जीवके सकर्मक होनेसे अन्य-अन्य भवमें भ्रमण और अन्य-अन्य शरीरकी रचना उसके बन सकती है। कदाचित् कहो कि—भवान्तरसे उत्पत्तिस्थानमें आता हुआ जीव प्रत्यक्षसे नहीं दिखाई देता है,—तो भूत भी कायाकारको धारण करके चेतनाको बढ़ाते हैं, ऐसा प्रत्यक्षसे नहीं देखते हैं। इस तरह दोनों बराबर हो गये। अब यदि ऐसा कहो—' कायाकार परिणत ही भूतोंमें चेतना देखी जाती है अन्यमें नहीं, ' इस अन्यथानुपपत्तिके वशसे कायाकारपरिणतभूतजन्य चेतनाकी ही परिकल्पनाकी जाती है, तब भी तो मृतावस्थामें कायाकारको धारण करनेवाले भूतोंमें वह उपलब्ध नहीं होती; अथवा कायाकार परिणाम कभी-कभी होनेसे हेत्वन्तरकी अपेक्षा करता है, इस अन्यथ

नहीं हैं। (ब) और न **निश्चेतन ही भूत** चेतना बना सकते हैं, क्योंकि निश्चेतन भूत अत्यन्त विलक्षण होनेसे चैतन्य उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, अगर करेंगे तो बालू आदि भी तैलादि बना सकेंगे। यहाँ यह अभिप्राय है कि—भूतोंसे चैतन्य उत्पन्न होता है, इसका अर्थ हुआ कि भूत ही चैतन्यरूपसे परिणत होते हैं, इसलिए 'परिणाम' ही उत्पादका अर्थ आपको अभिप्रेत हुआ और एकान्त वैलक्षण्यमें परिणाम घट नहीं सकता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध ही है, तथापि इसमें बहुत उत्कट विवाद होनेसे अनुमान भी कहते हैं—चैतन्य विजातीय परिणाम नहीं होता है, **उत्पत्तिमान होनेसे**; जो उत्पत्तिवाला है वह विजातीय परिणामवाला नहीं है, जैसे मृद्रूपसे सजातीय मृत्पिण्डका परिणाम घट है; चैतन्य उत्पत्तिवाला है; इसलिए विजातीय परिणाम नहीं है।

उत्पत्तिमत्व सजातीय परिणामसे व्याप्त है, उससे विरुद्ध विजातीय परिणामपना है। इसलिए उत्पत्तिमत्त्व अपने व्यापकसे विरुद्ध जो विजातीय परिणामत्व उससे विनिवृत्त होता हुआ सजातीय परिणामत्वमें रहता है, इस तरह **विरुद्ध व्यापककी उपलब्धि** हुई। अथवा सजातीय परिणामको साध्य कर सकते हैं। तब अनुमान ऐसा होगा—चैतन्य सजातीय कारणका परिणाम है, **उत्पत्तिमान होनेसे**; जो ऐसा होता है वह वैसा होता है, जैसे मिट्टीका परिणाम घट; उसी तरह यह भी सजातीय परिणाम है। इसलिए निश्चेतन भूत चेतनाके बनानेमें प्रवृत्ति करनेके योग्य नहीं हैं, यह स्थित हुआ।

एक और बात कहते हैं कि—चैतन्य **भूतोंके समुदायमात्रसे** होगा या **उनके विशिष्ट परिणामसे** होगा? [अ] पहला विचार तो बन नहीं सकता है, क्योंकि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इनके मिलनेपर भी चेतना की उपलब्धि नहीं होती है। [ब] द्वितीय विचारमें क्या वैशिष्ट्य है? यह बताना चाहिए। अगर उस वैशिष्ट्यको कायाकार परिणाम कहोगे, तो प्रश्न यह होता है कि वह (चैतन्य) उसमें हमेशा क्यों नहीं रहता? 'किसी अन्य कारणकी अपेक्षा करता है, इसलिए नहीं होता'—ऐसा अगर कहोगे तो वह अन्य कारण हमारे अनुमानसे भवान्तरसे आयात जीवका चैतन्य है, उसीको ही कायाकार परिणामसे होनेवाला जो चैतन्य उसके अनुरूप उपादान कारणपना है। भवान्तरायातजीवके चैतन्यके **अभावमें** कायाकारपरिणामके **सद्भावमें** भी मृतावस्थामें, उससे (कायाकार परिणामसे) होनेवाले चैतन्यानुरूप उपादान कारणका अभाव होनेसे गमनादि चेष्टाकी उपलब्धि नहीं होती। इसलिए कायाकारपरिणामजन्य चैतन्य नहीं है, किन्तु **कायाकारपरिणाम ही चैतन्यसे जन्य है**, ऐसा हम ठीक समझते हैं। 'प्रत्यक्षके सिवाय दूसरा प्रमाण नहीं है और न उससे (प्रत्यक्षसे) परलोकको गमन या उससे आगमन आदि चैतन्यके देखे जाते हैं, इसलिए दृष्ट ही भूत उसके कारणके रूपसे कल्पनीय हैं',—ऐसा अगर कहोगे तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, इस बातका निराकरण करके प्रमाणान्तरोंको पहले ही सिद्ध कर आये हैं। तथा और भी उसी तरह परलोकमें जानेवाले जीवके साधक बहुतसे अनुमान होंगे। जैसे—उसी दिन उत्पन्न हुए बालकके सबसे शुरूकी स्तन पीनेकी अभिलाषा पूर्व अभिलाषापूर्वक होती है, **अभिलाषा होनेसे**; द्वितीय दिवसादिकी स्तनकी अभिलाषाके समान। सो यह अनुमान आद्य (शुरूकी) स्तन पीनेकी अभिलाषाको अभिलाषान्तरपूर्वक अनुमान करता हुआ अर्थापत्तिसे परलोकमें जानेवाले जीवकी तरफ इशारा करता है, क्योंकि उस जन्ममें तो अभिलाषान्तर हो नहीं

तीर्थिक और शेष पाखण्डीजन, जो कि सब व्यवहारीजन हैं, उनमें रूढ़ (प्रचलित) है। अगर उनमें प्रचलित न हो, तो निखिल व्यवहारके उच्छेदका प्रसंग आ जायगा, और उसके उच्छेद होनेपर विचारका उत्थान न होनेसे किसी भी तत्त्वकी प्रतिष्ठिति नहीं होगी। प्रमाणप्रसिद्ध भी अर्थमें प्रबल आवरण, कुदर्शनकी वासना, विप्रतारक (ठग) के वचन आदिसे किन्हीं अव्युत्पन्न और विप्रतिपन्न लोगोंके क्रमशः अनध्यवसाय और विपर्यासरूप व्यामोह हो जाते हैं, उसके दूर करनेके लिए सामर्थ्य होनेपर करुणावान् लोगोंकी प्रवृत्ति होती है ॥ ३२ ॥

वृत्तिकारकी प्रशस्ति

अब शास्त्रकी परिसमाप्तिमें टीकाकार **सिद्धर्षिगणि** परम-मङ्गलपदरूप जो भगवान् जिन, उनमें स्वयं अत्यन्त अनुरागसे दूसरोंको भी उस बातके ग्रहण करनेके लिये उपदेश देते हैंः—

स्याद्वादरूपी केसरीके अत्यन्त भयंकर वादकालभावी शब्दसे डरकर यह **सत्त्व** आदि हेतु, शरणसे रहित पुरुषके समान, शरणके लिये किसी भी शरण्यको ढूँढ़ता हुआ स्वयं ही भगे जानेवाले कुतीर्थी (परमतावलम्बी) रूपी मृगोंको छोड़कर अनन्य शरणरूपसे जिनभगवानका आश्रय लेता है। अन्य किसी जगह किसी प्रकारसे उसमें हेत्वाभासताकी उपपत्ति हो जाती है। यहाँ ही (जैनदर्शनमें ही) वह स्वरूपको प्राप्त करता है। इसलिए तुम भी हे भव्य जनो! उन्हीं जिन भगवानको भजो ॥ १ ॥

जिन भगवानका जो शासन-आगम, उसके अंशके कथनसे मैंने यह अपनी भगवान्‌में भक्ति प्रकट की है, लेकिन अपनी बुद्धि (पाण्डित्य) प्रकट नहीं की है। अतः इस टीकाके करनेमें अज्ञान-वश जो कुछ गल्ती हो गई हो, उसे साधु लोग मेरे ऊपर कृपा करके शुद्ध कर लेवें ॥ २ ॥

नाना प्रकारकी **न्यायावतारकी** विवृति टीका-विवरणको करनेकी इच्छा करनेवाले मुझे जो इस संसारमें शुभ नित्य पुण्यसंचय हुआ है, उससे मेरा दूसरेके कार्यके करनेके लिए तैयार मन, जबतक कि मुझे मोक्ष न मिल जाय तबतक जिनेन्द्रके मतमें लम्पट-तत्पर रहे, ऐसी भावना भाता हूँ ॥ ३ ॥

यह आचार्य '**सिद्ध**' की, जो व्याख्यानिक हैं, कृति है।

इस प्रकार **न्यायावतारकी विवृति** समाप्त हुई।

शुभं भूयात्

न्यायावतार